॥श्रीः॥

का० सं० ग्र० २५६

राजानक-उत्पलदेव प्रणीता

सिद्धित्रयी

सूर्यप्रकाश व्यास

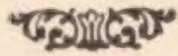


चौखम्भा संस्कृत संस्थान वारा

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२५९



राजानक-उत्पलदेव-प्रणीता

सिद्धित्रयी

मूल-वृत्ति-भाषान्तरादिसंवलिता

डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास

प्रवक्ता

संस्कृतविद्याधर्मविज्ञान संकाय

काशीहिन्दूविश्वविद्यालय

वाराणसी



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०४५
मूल्य : रु० १२५-००

फोन : ६५८८९

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पोस्ट बाक्स नं० १०८४
चौक, (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ५४७६६

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

259

*****

SIDDHITRAYĪ

OF

RĀJĀNAKA UTPALA DEVA

Edited and Translated

by

Dr. SURYA PRAKASH VYAS

Lecturer

Faculty of Saṁskṛita Learning and Theology

Banaras Hindu University

Varanasi

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 1139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI-221 001 (INDIA)

Phone : 65889
First Edition : 1989

Also available at :
CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Post Box No. 1084
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI-221 001
Phone : 54766

Printers :
SRIGOKUL MUDRANALAYA
Gopal Mandir Lane,
Varanasi-221 001

समर्पण

प्रेरणा के अजस्र स्रोत

श्रद्धेय गुरु-प्रवर

प्रो० रामचन्द्र द्विवेदी

को

सादर समर्पित



प्रस्तावना

प्रो. रामचन्द्र द्विवेदी

आचार्य—संस्कृत विभाग

निदेशक—मानविकी पीठ

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सोमानन्द, उत्पल और अभिनवगुप्त काश्मीर शैवदर्शन का त्रिक या मुनित्रय है। :सोमानन्द के शिष्य उत्पल का समय नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा उनकी सुविख्यात कृति है जिसने काश्मीर शैव दर्शन को तार्किक उपपत्ति प्रदान की। बौद्ध, सांख्य एवं न्याय दर्शन, दार्शनिक क्षेत्र में प्रमुख मल्ल थे जिनसे निपटे बिना किसी नये सिद्धान्त की उद्भावना व प्रतिष्ठा असंभव थी। आचार्य उत्पल ने इन्हीं प्रतिपक्षों का निराकरण कर अपने सिद्धान्त की स्थापना, गहन तार्किक विश्लेषण के साथ, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में की है। किंतु उन्हें यह आवश्यक प्रतीत हुआ होगा कि चेतन प्रमाता के साथ समग्र चेतनाचेतन विश्व की विश्रान्ति, बुद्धिमान् कर्ता के रूप में विश्व के स्रष्टा ईश्वर की सिद्धि तथा अनेकता में एकता के अनुसंधानरूप सम्बन्ध के विषय में संक्षेप में लिखा जाए। इन विषयों का विस्तृत प्रतिपादन ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में किया जा चुका है—इस उल्लेख के साथ उन्होंने अजडप्रमाता, ईश्वर तथा सम्बन्ध की सिद्धि के लिये जो कुछ संक्षेप में लिखा था वह सिद्धित्रयी के नाम से १९२१ में काश्मीर ग्रन्थावली में प्रकाशित हुआ था। उस समय तक मूल ग्रंथ की जो स्थिति थी वह

दुर्भाग्य से आज भी बनी हुई है। अजडप्रमातृसिद्धि की उत्पलकृत वृत्ति का अभी भी पता नहीं चल पाया है तथा ईश्वरसिद्धि में जो अंश त्रुटित थे उन्हें पूर्ण करने के लिये कोई नई पाण्डुलिपि भी उपलब्ध नहीं हो पाई है। इसलिये उत्पल की यह सिद्धित्रयी पाठकों के लिये दुर्लभ हो गई। नवीन पाण्डुलिपि की सामग्री के अभाव में, अपनी कल्पना से पाठ की उद्भावना करना न केवल दुष्कर कार्य है अपितु वह कठोर अध्यवसाय के बावजूद भी विश्वसनीय व प्रामाणिक नहीं हो पाता। इस स्थिति में एकमात्र विकल्प यही सम्भव था कि आचार्य उत्पल द्वारा निर्दिष्ट मतों के मूल का अनुसन्धान कर शब्दार्थ की व्याख्या के साथ उनके तात्पर्य को स्पष्ट किया जाए। यह कार्य भी अत्यन्त कठिन है किंतु इसे अपने हाथ में लेने का साहस मेरे प्रिय शिष्य डा० सूर्यप्रकाश व्यास ने जुटाया है। उत्पल की सिद्धित्रयी का विस्तृत भूमिका हिन्दी अनुवाद तथा विविध परिशिष्टों के सहित प्रकाशन उसी साहस का सुखद परिणाम है। डा० व्यास अपनी कृति 'बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन' के कारण सुपरिचित हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उनकी काश्मीर शैव दर्शन-विषयक साधना का सुफल है।

आचार्य उत्पल के अनुसार विज्ञानवादी बौद्ध जड़ अथवा अजड़ वस्तुओं का भेद प्रख्याउपाख्या अथवा अर्थक्रियाकारिता के आधार पर स्थापित नहीं कर सकता। बौद्धमत का यह निराकरण अजडप्रमातृसिद्धि की पहली से आठवीं कारिका तक है। इसके अनन्तर उत्पल ने चेतन प्रमाता के स्वातंत्र्यवाद की प्रतिष्ठा कर निर्गुण ब्रह्मवादियों के शान्तब्रह्मवाद का निराकरण ९ से ११ कारिकाओं में किया है। १५ वीं कारिका में उन्होंने अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इदम् या विषय के रूप में जो जाना जाता है उस जड़ की विश्रान्ति संवित् में है। उस संवित् का अहंरूप में अनुभव ही विमर्श या प्रत्यवमर्श है जो सभी जड़ वस्तुओं की प्रमाता के साथ एकता स्थापित कर उन्हें पार्यन्तिक चैतन्य प्रदान करता है—

इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्॥

(अजडप्रमातृसिद्धि, १५)

हरभट्ट शास्त्री की इसकी वृत्ति भी उल्लेखनीय है—

इदमिति विच्छिन्नतया विमृश्यस्यास्य जडस्य या संवित्स्वरूपविश्रान्तिलक्षणा कृतार्थता सोऽयमहमेव तत्तद्भाववैचित्र्यात्मना प्रकाशे इति चैतन्यप्रकाशतादात्म्यादहंप्रत्यवमर्शात्मा जीवितस्थानीयो, यदाश्रयाज्जडमपि वस्तु विमृष्टस्वभावप्रमात्रैक्यादहंभावविश्रान्तेरजडत्वमायाति। अजडाश्च वस्तुतः परप्रमात्रेकस्वभावा—इत्यद्वैतोऽजडप्रमातृभाव एव सर्वतः पारिपूर्ण्येन विजृम्भते—इति तात्पर्यम्॥

अस्तु। चेतन प्रमाता के साथ उसकी पूर्णाहन्ताप्रतीति में सभी विषयों का तादात्म्य और चैतन्य अवस्थित है। यह शैव दृष्टि बौद्ध और शांकर वेदान्त की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। बौद्ध की दृष्टि से वस्तु के सदसत्त्व का व्यवस्थापक प्रख्योपाख्याभाव अथवा अर्थक्रियाकारिता है। उसका ज्ञाता में प्रतिष्ठित होना या विश्रान्त होना या तदात्म होना आवश्यक नहीं। वेदान्त की दृष्टि में विषय्य का विषय के साथ, अन्धकार व प्रकाश की तरह, विरोध है। इदन्ता, अहन्ता के साथ कथमपि समरस नहीं हो सकती। विषयता का भान भ्रान्ति है जो मिथ्या प्रत्यय से जन्म लेती है, मनुष्य के बन्धन का कारण बनती है और वह नैसर्गिक व अनादि है। शैव दृष्टि, इसके ठीक विपरीत, विषय को सम्वित् का उल्लास स्वीकार करती है। विषयता की सत्ता अहंप्रत्यवमर्श से उद्भूत होती है और उसी में विलीन होती है। अतः इदन्ता व अहन्ता का सामरस्य पूर्णाहन्ता के विमर्श में है। 'मैं ही विश्व के वैचित्र्य में प्रकाशित हूँ' अथवा 'सर्वं शिवमयं जगत्' यह शैवदृष्टि है। सभी प्रकार के अनुभवों की पार्यन्तिक विश्रामभूमि एकमात्र

चेतन प्रमातृभाव है—न तो 'विज्ञप्तिमात्रता' है और न निर्विमर्शात्मक ब्रह्मरूपता। प्रकाशविमर्शमय पूर्णाहन्ता अपने को जब अणु—(संकुचित या परिमित) रूप में प्रकट करती है तो वही उसका जीवात्मभाव है। अमित परमात्मा क्रीड़ा के लिये स्वयं अपने को मित बना लेता है। पूर्णता द्वारा अपूर्ण के रूप में यह अवभासन उसकी स्वतंत्रता है, उसका विकार नहीं और इस प्रक्रिया में पूर्णभाव खंडित नहीं होता, परमात्मा अखंड रहता है—

द्विधा स एष एवात्मा
मितोऽपरिमितस्तथा।
प्राणादिना निरुद्धोऽणुः
परमात्मा त्वखण्डितः॥

(अजडप्रमातृसिद्धि, १६)

और वही पौर्वापर्य का मित व अमित दोनों रूपों में अनुसन्धान है।

नैयायिक आत्मा में ज्ञानादि गुणों का समवाय मानता है। आत्मा ज्ञानादि समवायी है। न्याय की आत्मसम्बन्धी इस दृष्टि का खण्डन आचार्य उत्पल ने अजडप्रमातृसिद्धि की १९–२० कारिकाओं में किया है। उनके अनुसार न्याय का आत्मतत्व निर्विमर्श होने से जड़ होगा। वह पारमार्थिक प्रमाता नहीं हो सकता। वस्तुतः अपरिच्छिन्न और पूर्ण अहंभाव का प्रथन न होना ही जीवभाव या बन्धन है। परन्तु इन सभी स्थितियों में अहंभाव का पूर्ण निरोध कभी नहीं होता। हाँ, अपूर्णता का अवभासन अवश्य रहता है। अजडप्रमातृसिद्धि की २२ से २४ कारिकाओं में आचार्य उत्पल ने अहंभाव की व्याख्या 'प्रकाश की आत्मविश्रान्ति', 'सर्वापेक्षानिरोध' द्वारा स्व में विश्रान्ति (जिसे ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में अनन्यापेक्षिता या अनन्यमुखप्रेक्षित्व कहा गया है) स्वातंत्र्य, मुख्य कर्तृत्व तथा ईश्वरभाव के रूप में की है। माया शिव की स्वयं से अभिन्न स्वरूपगोपनमयी क्रीड़ा है

जिसके द्वारा पूर्ण भाव की ख्याति नहीं हो पाती। पूर्णता की यह अख्याति ही जगत् है। यह उत्पल का अख्यातिवाद है जो दूसरे दार्शनिकों के ख्याति-वादों से भिन्न है। अजडप्रमाता की सिद्धि में उनका व्यापक तर्क यही है कि सभी प्रकार के ज्ञान, अनुभव आदि के पौर्वापर्य का अनुसंधान करने वाला स्वतंत्र, स्वसंवेदनसिद्ध, एक, अनादि प्रमातृतत्व है। उसी में भाव या अर्थ की प्रतिष्ठा है, उसी के द्वारा वस्तु के सदसत्त्व की तन्निष्ठ और तद्विश्रान्तिरूप में ही व्याख्या की जा सकती है। संवित् के अनुसंधानात्मक चैतन्य में ही अन्तः स्थित भावजात, ज्ञान शक्ति से भेदात्मक भासित होता है। विषय और विषयी के सम्बन्ध में, ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय के सम्बन्ध में आचार्य उत्पल की यह मीमांसा 'तदद्वयमयं जगत्' के सिद्धान्त का प्रति-पादन है। यह व्यवहार और परमार्थ की दो भिन्न कोटियों को स्वीकार नहीं करता जैसा कि बौद्ध और वेदान्ती मानते हैं। यह अद्वयवाद, व्यवहार का परमार्थता के साथ तादात्म्य तथा परमार्थ द्वारा व्यवहार (नानात्व) को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता का उद्घोष करता है।

बौद्धों ने ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगा दिया था, सांख्य स्वभाव-वाद द्वारा ईश्वर की अपेक्षा से मुक्त हो गया था और नैयायिकों का ईश्वर अनीश्वर हो गया था। इन तीनों दृष्टियों का, विशेषतः सांख्यसिद्धान्त का खण्डन करते हुए आचार्य उत्पल ने यह स्थापित किया है कि सन्निवेश-विशेष या कोई भी व्यवस्थित रचना बुद्धिमान् कर्तृत्व को माने बिना संभव नहीं है। मिट्टी घड़े का उपादान कारण हो सकती है, किंतु हर मिट्टी घड़े की विशिष्ट रचना का स्वयं कारण बन सकती है—यह कथमपि माना नहीं जा सकता। घट का निर्माण, तर्कव्यवस्था या कलात्मक संरचना, मात्र उपादान कारण या सहकारी कारण से संभव नहीं। सृष्टि, गुणाक्षर न्याय नहीं है, यह कुशल चितेरे का चित्र है जिसमें उसका अन्तर्भाव सन्निविष्ट है। वस्तुतः कोई भी चित्र एक सजग चित्रकार के अन्तःस्थित भाव का संयोजन-वियोजन, स्वतंत्र पद्धति से अपूर्व निर्माण है, वह सन्निवेश विशेष है। उसका

दूसरे के साथ सम्बन्ध भी है। वह उपकार्योपकारक भाव में एक दूसरे से सम्बद्ध होकर व्यवस्थित है और इसीलिये समग्र विश्व ईश्वर द्वारा ही निर्मित है। 'अजडप्रमातृसिद्धि' के प्रसंग में ईश्वर की व्याख्या का उपक्रम उपलब्ध है। उसका सृष्टि-प्रक्रिया के सन्दर्भ में, विश्व की निर्मिति के प्रसंग में सांख्य–बौद्ध–न्याय–सम्मत दृष्टियों के उपपत्तिपूर्वक खंडन के साथ विष्कलन 'ईश्वरसिद्धि' में प्राप्त होता है। आचार्य शंकर की भांति उत्पल की प्रखर तार्किकता का साक्षात्कार 'ईश्वरसिद्धि' की कारिकाओं और विशेषरूप से वृत्ति में किया जा सकता है। ईश्वर की सिद्धि में उनका एकमात्र प्रधान तर्क है, जिसका उन्होंने प्रारम्भ में उल्लेख और अन्त में निगमन किया है, पहली कारिका जो इस प्रकार है—

तत्वादि बुद्धिमद्धेतु संनिवेशविशेषवत्'''।

तथा अन्तिम कारिका है—

तस्मात्प्रसिद्धं तन्वादि
बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकम् ॥ ५२ ॥
संस्थान भेदादित्येत—
न्निरवद्यं प्रसाधनम् ॥ ५३ ॥

उनका यह हेतु या तर्क किसी प्रकार के हेतु-दोषों से परिभूत नहीं होता तथापि उनका कथन है कि कितने भी अपराजेय और निर्दुष्ट तर्क दिये जाएं, मूढ के हाथ में रखी हुई महादेवमणि उसे प्रकाश नहीं दे पाती भले ही वह ईश्वर कर्ता, ज्ञाता के रूप में सभी प्राणियों के अन्तस में स्थित है और शेष है केवल उसे पहिचानना। उसे पहिचानना या अपने को पहिचान लेना, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा या स्वात्मप्रत्यभिज्ञा, भारतीय परम्परा में एक ही बात है—'आत्मानं विद्धि' 'आत्मा च ब्रह्म'। ईश्वर के सम्बन्ध में यह दृष्टि कि आत्मभाव व परमात्मभाव एक है, ख्रिस्तीय, अरबिक आदि दूसरे धर्मदर्शनों से नितान्त भिन्न है। यहां मनुष्य ही परमात्मा है। वही

अपनी नियति का कर्ता और ज्ञाता है। वही अपने पूर्ण भाव में सृष्टि के मूल, मध्य व अन्त में स्थित है।

'सम्बन्धसिद्धि' में, सम्बन्ध के विषय में आचार्य उत्पल ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वह सूत्ररूप में इस प्रकार है—

'संशब्देन सहार्थवृत्तिना समानार्थवृत्तिना वा बन्धिना च देशान्तरपरिहारपूर्वकैकदेशावस्थानार्थेन विस्पष्टमुक्तैव स ह्यनेकस्यैकता।'

इसी को आधार बनाकर उन्होंने विभिन्न कारकों द्वारा जिन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति होती है उनकी और तार्किक सम्बन्ध का जो स्वरूप माना गया है उसकी व्याख्या की है। दुर्भाग्य से उत्पल के विचार अभी तक 'सम्बन्धसिद्धान्त' के विवेचन में विचारे नहीं जा सके हैं। इस प्रकाशन के साथ उनके इस अपेक्षाकृत अपरिचित व अज्ञातसिद्धान्त का गहन तार्किक विश्लेषण हो सकेगा ताकि काश्मीर शैव दर्शन ने विश्व के दर्शन को अपना जो अवदान दिया है, वह जाना जा सके।

काश्मीर शैव दर्शन अभी भी भारत में तथा अन्यत्र अपरिचित है। इसकी दार्शनिक उपपत्तियाँ नवीन हैं। उनमें शुद्ध तार्किकता है तथा वे प्रचलित भारतीय दर्शनों से भिन्न व विलक्षण हैं। अतः निश्चित रूप से उपादेय हैं। किंतु काश्मीर शैव दर्शन के ग्रन्थों के दुर्लभ हो जाने से, नवीन मातृका सामग्री के उपलब्ध न होने से और हिन्दी, अंग्रेजी आदि में व्याख्या न होने से यह चिन्तामणि चिन्तकों के हाथ नहीं लग पाई। डॉ० व्यास ने एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के सानुवाद प्रकाशन द्वारा इस दिशा में एक प्रशंसनीय प्रयास किया है। वे अपनी निरन्तर सारस्वत साधना से काश्मीर शैव दर्शन की विच्छिन्न एवं विकीर्ण सम्प्रदाय-परम्परा का पुनरुद्धार करें यही मेरी हार्दिक मंगल-कामना है। आचार्य उत्पल की संक्षिप्त किंतु महनीय कृति 'सिद्धित्रयी' का व्याख्या एवं भूमिका के साथ प्रकाशन, शैव

सम्प्रदाय की प्राणप्रतिष्ठा के लिए किया गया यह उपक्रम स्तुत्य है। आशा है कि त्रिक दर्शन की जो विशाल ग्रन्थ राशि अव्याख्यात पड़ी है उसके क्रमशः सम्पादन और व्याख्यान का गुरुतर दायित्व डॉ० व्यास आजीवन निभाते रहेंगे। इन्हीं शब्दों के साथ इस प्रकाशन की त्रुटियों के विवेचन के लिए और उत्पल के मत की तुलनात्मक समीक्षा के लिये मैं दार्शनिकों को आमन्त्रित करता हूँ।

२२ मार्च, १६८८ रामप्रसाद द्विवेदी

प्राक्कथन

आगम-परम्परा के सर्वोच्च दार्शनिक सम्प्रदाय काश्मीर शैव दर्शन के प्रति विगत कुछ वर्षों से जिज्ञासुओं की रूचि बढ़ी है। एक ओर दुर्लभ मूल ग्रन्थों के पुनर्मुद्रण, प्रकाशन, सानुवाद अध्ययन, तुलनात्मक विवेचन आदि के गंभीर प्रयास हो रहे हैं तो दूसरी ओर विविध विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इस दर्शन के ग्रन्थों को स्थान देकर अध्ययन-अध्यापन की खण्डित परम्परा को फिर से प्रारम्भ करने का प्रशंसनीय प्रयास भी किया जा रहा है। इसी दर्शन को केन्द्रीय विषय बनाकर अखिल भारतीय स्तर की संगोष्ठियों व प्रसारभाषणों का क्रम भी प्रगति पर है। यह उत्साह-वर्द्धक वातावरण इस विश्वास को दृढ़तर करता है कि विश्व दर्शन के इतिहास में काश्मीर शैव दर्शन को वह स्थान और महत्त्व निकट भविष्य में अवश्य सुलभ होगा जिसका वस्तुतः वह अधिकारी है।

काश्मीर शैव दर्शन के महत्त्व-स्थापन की आजीवन साधना करने वाले मुनिवर श्रद्धेय डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय का इस विषय में ऐतिहासिक योगदान अतुलनीय है। उन्होंने अपने गंभीर अनुसंधान द्वारा इस दर्शन के अज्ञात पक्षों को उद्घाटित करके भावी अध्ययन और अनुसंधान का आधार तैयार किया। इस मुनिवर ने स्वामी रामकृष्ण परमहंस की भाँति अपने एक ही प्रमुख शिष्य प्रो० राम-चन्द्र द्विवेदी को अपने विवेक से अभिषिक्त किया। किंतु श्रद्धेय गुरुप्रवर प्रो० द्विवेदी ने इस पवित्र लक्ष्य को बहुमुखी आयाम दिये।

इन्होंने न केवल इस दर्शन के ग्रन्थों का संपादन किया, अनेक लेख लिखे अपितु इनकी प्रेरणा व प्रयास से देश के विभिन्न स्थानों पर शैव दर्शन-विषयक सार्थक संगोष्ठियों का आयोजन हुआ। इन संगोष्ठियों के सफल नेतृत्व और व्याख्यानों ने इन्हें इस दर्शन का सर्वाधिक प्रामाणिक प्रवक्ता सिद्ध किया। आपके कुशल, उदार और अप्रतिम निर्देशन ने शिष्यों की ऐसी परम्परा का सूत्रपात किया जो अपने विविध शोधकार्यों से इस दर्शन के विभिन्न पक्षों को उजागर करने में यथाशक्ति सतत संलग्न है। इस परम्परा में प्रमुख हैं प्रो० कामेश्वरनाथ मिश्र, डॉ० नवजीवन रस्तोगी, डॉ० विशालप्रसाद त्रिपाठी, डॉ० कृष्णकुमार अवस्थी, डॉ० ब्रह्मप्रसाद वर्मा, डॉ० रमाशंकर सिंह, डॉ० (श्रीमती) मनोरमा आर्या, डॉ० (श्रीमती) कमला द्विवेदी, डॉ० कुंजबिहारी जोशी, श्रीमती बीना अग्रवाल आदि। गुरुप्रवर के व्यापक वैदुष्य और कर्मठ व्यक्तित्व से प्रेरणा लेकर उनके शिष्यों को 'जो कुछ' और 'जैसा कुछ' करना चाहिये वैसा न होने पर भी यह उनकी महानता है कि वे अपने शिष्यों के 'यत्किंचित्' को भी मान्यता देते हैं। इस पुस्तक को अपनी शुभांशंसा देते हुए उन्होंने अपने अनुग्रह को ही अभिव्यक्त किया है। एतदर्थ मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ।

काश्मीर शैव दर्शन पर शोधकार्य के प्रारम्भ से ही राजानक उत्पल की सिद्धित्रयी मेरे विचार का विशेष विषय रही है। इस ग्रन्थ के संक्षिप्त स्वरूप, गंभीर विषय, क्लिष्ट भाषा और स्वतंत्र शैली में निश्चय ही विचित्र आकर्षण है। अतः अपने शोधकार्य की समाप्ति के बाद मैंने सर्वप्रथम इसी पर अपने स्वाध्याय को केन्द्रित किया। इसी बीच मेरे प्रिय शिष्य डॉ० कुंजबिहारी जोशी ने (एम. ए. उत्तरार्द्ध कक्षा में) इस ग्रन्थ पर लघु शोध निबन्ध लिखने का संकल्प लिया तब उन्हें यथाशक्ति सहायता करते हुए

भी मुझे प्रतीत हुआ कि यह ग्रन्थ परीक्षा की औपचारिकताओं से मुक्त स्वतंत्र अध्ययन और श्रम की अपेक्षा रखता है। विविध परिस्थितिवश यह कार्य कभी तीव्र और कभी मन्द गति से चलता रहा। ग्रन्थ के सम्पादन का उत्साह उस समय नैराश्य से घिर गया जब यथाशक्ति प्रयास करने पर इसकी अन्य पाण्डुलिपि कहीं से भी प्राप्त न हो सकी। इस बाधा से अनेकशः मन खिन्न हुआ किंतु जब अनुभव किया कि इस ग्रन्थ पर कार्य करने के आकर्षण से मन कथमपि विरत नहीं हो पारहा है तो काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली के १६२१ में प्रकाशित संस्करण से हिन्दी अनुवाद एवं विषय-विवेचन का कार्य जारी रखने का निर्णय लिया। ईश्वरसिद्धि के यत्र-तत्र खण्डित व अपूर्ण अंशों की पूर्ति का प्रयास किसी निर्णायक व पूर्ण सन्तोष के बिन्दु तक नहीं पहुँच सका इसलिये उसे यथावत् रखा गया। इस प्रकार इस पुस्तक में सिद्धित्रयी के मूलपाठ, ईश्वरसिद्धि व सम्बन्धसिद्धि पर उत्पलाचार्य की ही स्वोपज्ञवृत्ति एवम् अजड-प्रमातृसिद्धि पर पं० हरभट्ट शास्त्री की वृत्ति को हिन्दी अनुवाद एवं विस्तृत भूमिका के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसमें विभिन्न परिशिष्टों के साथ ग्रन्थान्तर नामक ऐसा परिशिष्ट भी समाविष्ट है जिसमें उत्पलाचार्य की अन्य रचनाओं से, सम्बद्ध विषयों का सानुवाद संकलन है। संक्षेप में, इस दुरूह ग्रंथ को समझने का यह प्रथम व्यवस्थित प्रयास है।

केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षासंस्थान, सारनाथ में शब्दविद्या संकाय के प्रमुख एवं मेरे आदरणीय गुरुभाई प्रो० कामेश्वरनाथ मिश्र के प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस प्रकाशन में सक्रिय सहयोग दिया। संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय के भूतपूर्व संकाय-प्रमुख श्रद्धेय प्रो० सीताराम शास्त्री और धर्म-

शास्त्रमीमांसा विभाग के अध्यक्ष डॉ० एन. आर. श्रीनिवासन् ने ग्रन्थ पर विविध चर्चाओं से मुझे लाभान्वित किया, एतदर्थं मैं उनका कृतज्ञ हूँ। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित त्रिमुखी शिव का चित्र, गुपकर, काश्मीर से प्राप्त दसवीं शती की मूर्ति का है। इस स्थान व काल का कुछ सम्बन्ध उत्पल से है तथा विषय की दृष्टि से भी इसकी प्रस्तुति प्रासंगिक है। इस चित्र को सुलभ कराने के लिये मैं भारतीय विद्या के अमरीकी संस्थान (रामनगर, वाराणसी) तथा तद्द्वारा भारत सरकार के पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग को धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिस सर्वेक्षण विभाग ने इस संस्थान को ऐसी दुर्लभ ऐतिहासिक मूर्तियों के चित्रों को संरक्षित रखने का अधिकार प्रदान किया।

चौखम्भा संस्कृत संस्थान के व्यवस्थापक श्रीमान् मोहनदास गुप्त एवं उनके पुत्र श्री राजेन्द्र कुमार इस तरह के दुर्लभ व वशेषीकृत विद्याग्रन्थों के प्रकाशन में सदैव उत्साह व तत्परता दिखाते रहे हैं। मैं उनके इस सद्भाव की प्रशंसा करते हुए, सहयोग के लिये आभार व्यक्त करता हूँ।

वाराणसी
११ सितम्बर, १९८८

सूर्यप्रकाश व्यास

विषयसूची



कारिकानुक्रमणिका

अजडप्रमातृसिद्धिः



ईश्वरसिद्धिः

सम्बन्धसिद्धिः



कारिकानुसार प्रतिपाद्य-विषयसूची

अजडप्रमातृसिद्धि

कारिकांक — विषय

ईश्वरसिद्धि

सम्बन्धसिद्धि

सिद्धित्रयी

राजानक उत्पलदेव

जीवन-परिचय

काश्मीर शैव दर्शन के महान् दार्शनिक राजानक उत्पलदेव के जीवन-परिचय के विषय में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। वे दार्शनिक होने के साथ ही महान् साधक भी थे। इसलिये व्यक्तिगत परिचय को अपने ग्रन्थों में स्थान देना संभवतया उन्हें उचित प्रतीत नहीं हुआ। तथापि उनके ग्रन्थों में प्राप्त कतिपय संकेतों तथा परवर्ती शैवाचार्यों के उल्लेखों से कुछ सूचनाएँ संग्रहीत की जा सकती हैं।

उत्पल ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (४-२-३) में स्वयं को उदयाकर का पुत्र कहा है—

"जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता॥"

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (४. २. ३) में भी इसी तथ्य का समर्थन मिलता है—

'उदयाकरपुत्रः श्रीमानुत्पलदेवोऽस्मत्परमगुरूरिदं शास्त्रमकार्षीत्।'

किंतु तंत्रालोक (आह्निक ३७, श्लोक ६१) में एक स्थान पर उत्पल को सोमानन्द का पुत्र कहा गया है जिससे उक्त तथ्य में शंका होना स्वाभाविक है—

'सोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः।'

इसी उल्लेख को आधार बनाकर डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय[1] ने इन्हें सोमानन्द का पुत्र माना था। किंतु वस्तुतः उत्पल सोमानन्द के शिष्य थे।[2]

---

१. Abhinavgupt : A Study, Page 162.

२. द्रष्टव्य—

(अ) श्री सोमानन्दस्यानुकम्प्याः पुत्राः श्रीमदुत्पलदेवप्रभृतयः शिष्याः। तंत्रा, टीका, भाग २, पृ. ६५ (विवेक, २-३-८४)।

(ब) उवाचोत्पलदेवश्च श्रीमानस्मद्गुरोर्गुरूः। तंत्रा, १२ २५।

तंत्रालोक का उक्त वक्तव्य गुरु-शिष्य परम्परा की सूचना देता है, पितृ-पुत्र-परम्परा की नहीं। शिष्य को पुत्रवत् मानकर ही यह उल्लेख किया गया है। इसी वक्तव्य से कुछ विद्वान्[1] लक्ष्मणगुप्त को उत्पल का पुत्र बताते हैं वह निष्कर्ष भी स्वीकार-योग्य नहीं है क्योंकि उत्पल के साथ कुलसूचक राजानक शब्द प्रचलित है जबकि लक्ष्मण के साथ गुप्त। अतः जिस प्रकार उत्पल सोमानन्द के शिष्य थे उसी प्रकार लक्ष्मणगुप्त उत्पल के शिष्य थे। उत्पल ने अपने पुत्र विभ्रमाकर व सहपाठी पद्मानन्द का स्वयं उल्लेख किया है जिनके आग्रह पर उन्होंने शिवदृष्टि पर वृत्ति लिखी थी—

"विभ्रमाकरसंज्ञेन स्वपुत्रेणास्मि चोदिता।
पद्मानन्दाभिधानेन तथा स ब्रह्मचारिणा॥"

(शिवदृष्टिवृत्ति, १. १.)

इनके शिष्यों में रामकंठ का भी उल्लेख मिलता है।[2]

देश-काल

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की भूमिका में पं० मधुसूदन कौल ने उत्पल का निवास-स्थान श्रीनगर क्षेत्र में गुप्तपुर (काश्मीरी भाषा में गोटपोरा) बताया है। इस सूचना का आधार स्वामी साहब कौल की काश्मीरी में लिखित जीवनी है। तथापि अन्य किसी प्रामाणिक उल्लेख के अभाव में इतना तो निर्विवाद-रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि वे श्रीनगर क्षेत्र के किसी भूभाग के निवासी थे।

उत्पल के काल के विषय में विभिन्न विद्वानों ने विचार किया है जिसका निष्कर्ष यही है कि वे ईस्वी सन् ८७५ से ९२५ के मध्य कभी हुए थे।[3]

---

१. Pandey, K. C., Abhinavgupt, P. 164; शर्मा, उमाशंकर, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. ३५१.
2. Jash, Pranabanand, History of Śaivism, P. 126; Ray, Sunil chandra, Early History and culture of Kashmir. P. 199.
3. (अ) Jash, Pranabanand, History of Śaivism, P. 126.
(ब) Ray, Sunil chandra, Early History and culture of Kashmir, P. 199.
(स) Pandey, K. C., Abhinavgupt, P. 162.

रचनाएँ

राजानक उत्पलदेव की दस रचनाओं का विवरण प्राप्त होता है—

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाटीका
४. शिवदृष्टिवृत्ति
५. अजडप्रमातृसिद्धि
६. ईश्वरसिद्धि
७. ईश्वरसिद्धिवृत्ति
८. सम्बन्धसिद्धि
९. सम्बन्धसिद्धिवृत्ति
१०. शिवस्तोत्रावली[1]

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, वृत्ति, टीका

आचार्य सोमानन्द की शिवदृष्टि में प्रतिपादित सिद्धान्तों को तर्कपूर्ण विस्तार देने वाला यह ग्रन्थ उत्पल की कीर्ति-पताका का उज्ज्वल नक्षत्र है। इसी ग्रन्थ के आधार पर इस दर्शन का प्रत्यभिज्ञादर्शन नाम प्रचारित हुआ। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में 'सूत्र' के नाम से इसी रचना की ओर संकेत किया है[2]। उत्पल ने इस पर स्वयं ही वृत्ति लिखी जिसका प्रकाशन काश्मीर संस्कृत सीरिज के ३५ वें पुष्प के अन्तर्गत (सिद्धित्रयी के

(द) जोशी, भंवरलाल, काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी, पृ० ३१.

(य) कौल, जियालाल, शिवस्तोत्रावली भूमिका, पृ० ४.

१. त्रिपाठी, विशालप्रसाद (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० १८) ने क्रमस्तोत्र का रचनाकार उत्पल को बताया है जो अनुचित है। यह स्तोत्र अभिनवगुप्त द्वारा विरचित है। द्रष्टव्य—Pandey, K. C., Abhinavgupt, P. 71.

२. सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लध्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरणविवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः॥

साथ) १९२१ में हुआ। इसी ग्रन्थ पर उत्पल ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाटीका नामक विस्तृत व्याख्या लिखी थी जो सम्प्रति अनुपलब्ध है। अभिनवगुप्त ने 'कारिका' एवं टीका पर क्रमशः लघ्वी विमर्शिनी तथा बृहत् विमर्शिनी का प्रणयन किया जो काश्मीर संस्कृत सीरिज से ही ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी एवं ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी के नाम से प्रकाशित हुई हैं। विमर्शिनी पर भास्कर ने भास्करी व्याख्या को लिखकर विषय को सरलता, स्पष्टता और गौरव प्रदान किया।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका में ४ अधिकार १६ आह्निक व १९१ कारिकाएँ हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —

अधिकार	आह्निक	कारिकाएँ
I ज्ञानाधिकारः	उपोद्घात	५
	पूर्वपक्षविवृतिः,	११
	परदर्शनानुपपत्ति	७
	स्मृतिशक्तिनिरूपणम्	८
	ज्ञानशक्तिनिरूपणम	२१
	अपोहनशक्तिनिरूपणम्	११
	एकाश्रयनिरूपणम्	१४
	माहेश्वर्यनिरूपणम्	११
II क्रियाधिकारः	क्रियाशक्तिनिरूपणम्	८
	भेदाभेदविमर्शनम्	७
	मानतत्फलमेयनिरूपणम्	१७
	कार्यकारणतत्त्वनिरूपणम्	२१
III आगमाधिकारः	तत्त्वनिरूपणम्	११
	प्रमातृतत्त्वनिरूपणम्	२०
IV तत्त्वसंग्रहाधिकारः	तत्त्वार्थनिरूपणम्	१५
	गुरुपर्वक्रमनिरूपणम्	३

आह्निकों का उक्त विभाजन ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के अनुसार है। अन्यथा उत्पल का मूल ग्रन्थ उपर्युक्त चार अधिकारों व उनमें क्रमशः ८८,

५३, ३१ व १८ कारिकाओं में विभाजित है। इसमें भी उत्पल की वृत्ति तीसरे अधिकार की २० वीं कारिका तक ही उपलब्ध होती है।

शिवदृष्टिवृत्ति

उत्पलाचार्य ने इसकी रचना निश्चय ही ईश्वरप्रत्यभिज्ञाटीका के बाद में की थी क्योंकि इस वृत्ति में उसका उल्लेख प्राप्त होता है।[1] यह वृत्ति चतुर्थ आह्निक की ७४ वीं कारिका तक ही प्राप्त होती है। इसके प्राथमिक श्लोकों से स्पष्ट है कि उत्पल ने इसे स्वपुत्र विभ्रमाकर व सहपाठी पद्मानन्द की प्रार्थना पर लिखा था।

शिवस्तोत्रावली

इसका प्रथम प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी से सन् १९०२ में हुआ था। द्वितीय संस्करण क्षेमराज की विवृति एवं राजानक लक्ष्मण जू विरचित हिन्दी टीका के साथ १९६४ में प्रकाशित हुआ। इसका आंग्ल-भाषानुवाद एन० के० कोटरु ने १९८५ में प्रकाशित कराया।

उत्पल ने इस स्तोत्र ग्रंथ की रचना में आरम्भ से शिवावस्था पर्यन्त अपने आध्यात्मिक जीवन की अनुभूतियों को अत्यन्त सुन्दर शैली में अभिव्यक्त किया है। इसमें काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार अद्वैत भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। यह लेखक की अत्यन्त लोकप्रिय रचना है।

इसमें यद्यपि २० स्तोत्र हैं किंतु लेखक ने इन्हें इस रूप में नामकरण-पूर्वक विभाजित नहीं किया था। लेखक ने केवल संग्रहस्तोत्र, जयस्तोत्र तथा भक्तिस्तोत्र के नाम रखे थे जो वास्तव में इस संग्रह के सर्वोत्तम स्तोत्र हैं। इन्हें श्रीराम तथा आदित्य नामक आचार्यों ने क्रमबद्ध कर स्तोत्रों का रूप दिया और आचार्य विश्वावर्त ने २० स्तोत्रों में व्यवस्थित किया। इसीका अपरनाम परमेशस्तोत्रावली है किंतु डॉ० बुह्लर ने इसे स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में उल्लिखित किया है। संग्रहीत २० स्तोत्रों का विवरण इस प्रकार है—

---

१. एतत्सर्वमीश्वरप्रत्यभिज्ञाटीकायां निपुणमालोचितम्।

शिवदृष्टिवृत्ति, १. १२.

सिद्धित्रयी, वृत्ति

सिद्धित्रयी का सर्वप्रथम प्रकाशन काश्मीर संस्कृत सीरिज के अन्तर्गत सन् १९२१ में हुआ था। इसका संपादन जम्मू व काश्मीर राज्य के शोध-विभाग के तत्कालीन अधीक्षक पं० मधुसूदन कौल शास्त्री ने किया था। इस संकलन में सिद्धित्रयी के बाद लेखक की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका को भी सम्बद्ध कर दिया गया था। ग्रन्थ के प्राक्कथन में इसकी पाण्डुलिपियों आदि के सम्बन्ध में (आंग्लभाषा में) जो विवरण संपादक ने दिया है उसका सारांश इस प्रकार है—

अजडप्रमातृसिद्धि की दो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुईं। एक पाण्डुलिपि पं० हरभट्ट शास्त्री के पास सुरक्षित थी जो काश्मीरी कागज पर अंकित

थी। दूसरी पाण्डुलिपि पं० महेश्वर राजानक के पास से प्राप्त हुई जो पुराने देशी कागज पर अंकित थी। दोनों पाण्डुलिपियाँ शारदालिपि में थीं तथा लगभग शुद्ध थीं। शोध-पाण्डुलिपि-पुस्तकालय से शारदालिपि में उपलब्ध ईश्वरसिद्धि बहुत जीर्ण-शीर्ण अवस्था में प्राप्त हुई। यह संभवतया सन् १४११ की पाण्डुलिपि थी। पुराने देशी कागज पर शारदालिपि में पं० श्रीधर शार, रैनावाड़ी, जिला श्रीनगर से प्राप्त सम्बन्धसिद्धि भी प्रायः शुद्ध थी।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अजडप्रमातृसिद्धि व सम्बन्धसिद्धि की पाण्डुलिपियाँ पण्डितों के पास थीं इसलिये वे प्रायः शुद्ध थीं व उनका स्वरूप भी सुरक्षित था। किंतु ईश्वरसिद्धि की दुर्दशा तत्कालीन प्रशासनिक कौशल की झलक दिखलाती है। यह इसलिये भी अधिक दुःखद प्रतीत होता है कि ईश्वरसिद्धि इस संकलन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी है तथा इसका आकार-प्रकार शेष दो सिद्धियों को मिलाकर भी अधिक है। श्रीनगर के राजकीय ग्रंथागार में इस दर्शन का विपुल दुर्लभ साहित्य आज भी कालकवलित हो रहा है जिसके उद्धार के लिये प्रबुद्ध विद्वद्वर्ग प्रयासशील होते हुए भी कुछ कर पाने में बाधाओं का अनुभव कर रहा है।

सिद्धित्रयी को इसके आद्य सम्पादक ने जिस क्रम में प्रस्तुत किया वह सर्वथा युक्तियुक्त एवं स्वीकरणीय है। अजडप्रमातृसिद्धि में २७, ईश्वरसिद्धि में ५६ और सम्बन्धसिद्धि में २३ कारिकाएँ हैं। इस प्रकार सिद्धित्रयी कुल १०६ कारिकाओं का ग्रंथ है। अजडप्रमातृसिद्धि की उत्पल-प्रणीत वृत्ति उपलब्ध नहीं है। पं० हरभट्ट शास्त्री ने (सन् १८४१ में) जो संक्षिप्त वृत्ति लिखी है वह अत्यन्त प्रौढ़ तथा विषय को पूर्णतया स्पष्ट करने वाली है। ईश्वरसिद्धि व सम्बन्धसिद्धि पर उत्पल की वृत्ति उपलब्ध है किंतु दोनों की शैलियों में भेद है। ईश्वरसिद्धि की वृत्ति में कारिका से पूर्व अवतरणिका देने अथवा कारिका में व्यक्त शब्दों व युक्तियों को विस्तार से प्रस्तुत करने आदि के लिये कोई नियम नहीं माना गया है। कारिकाएँ अपने क्रम से चलती हैं और वृत्ति में विषय का प्रतिपादन कहीं-कहीं स्वतंत्ररूप से तथा कहीं-कहीं कारिकाओं से सम्बद्ध रूप में हुआ है। तथापि ४२ कारिकाओं तक कारिकाओं के पहले अथवा बाद में किसी न किसी रूप में वृत्ति सुलभ है। किंतु ४२ (ब) से कारिका ५६ तक प्रतिपादित विषय का विवेचन वृत्ति के पूर्वभाग में ही मुख्यरूप से जोड़ दिया गया है, अतः इन १४

कारिकाओं के साथ वृत्ति नहीं दी गई है। सम्बन्धसिद्धि की शैली और भी विलक्षण है। दो कारिकाओं के बाद सम्पूर्ण ग्रन्थ की वृत्ति एक साथ दे दी गई है। अतः शेष कारिकाओं के साथ वृत्ति नहीं है। प्रस्तुत प्रकाशन में, बहुत विचार के बाद, यही उचित समझा गया कि मूलग्रंथ व इस पर वृत्ति की जो व्यवस्था उपलब्ध है उसे भंग न किया जाए और इसी रूप में इसका प्रकाशन किया जाए।

सिद्धित्रयी की कारिकाएँ सूत्र-शैली में हैं। विषय को स्पष्ट प्रतिपादित करने में कारिकाएँ सर्वथा असमर्थ हैं। अतः स्वयं लेखक इन पर वृत्ति लिखे यह अत्यन्त आवश्यक था। जहाँ किसी बिन्दु पर वृत्ति में व्याख्या नहीं मिलती वह बिन्दु सही परिप्रेक्ष्य में समझ पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। कारिका व वृत्ति मिलकर ही विषय का स्पष्ट चित्र पाठक के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अतः इस ग्रन्थ के प्रसंग में कारिकाओं को सार अथवा मूलरूप व वृत्तियों को मात्र उसका विस्तार नहीं कहा जा सकता।

उत्पल की कारिकाओं में विशेषरूप से कतिपय ऐसे स्थल हैं जिन पर वृत्ति में प्रकाश नहीं डाला गया है तथा इसी कारण से उसका वास्तविक तात्पर्य संदिग्ध ही रह जाता है। ऐसे स्थलों का संकेत यथास्थान किया गया है।



सिद्धित्रयी : प्रतिपाद्य एवं सारांशः

अजडप्रमातृसिद्धि

अजडप्रमातृसिद्धि की २७ कारिकाओं में उत्पलाचार्य ने परिमित प्रमाता के स्वरूप पर मुख्यरूप से विचार किया है। इस सिद्धि के प्रतिपाद्य को अधोलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है :—

संवित् का स्वरूप

इस सिद्धि की लगभग ७ कारिकाओं में उत्पल ने संवित् के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अद्वयवादी काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव और शक्ति नित्य समरस हैं। इस अद्वयतत्त्व के लिये शिव और शक्ति इन दोनों शब्दों के प्रयोग की अनिवार्यता नहीं है क्योंकि शिव में विद्यमान इकार ही शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है जिसके बिना शिव शव है। तथापि तत्त्वविवेचन की दृष्टि से शिवपक्ष को प्रकाश एवं शक्ति पक्ष को विमर्श कहा जाता है। उत्पल ने प्रकाश के लिये प्रख्या और संवित् शब्द का प्रयोग किया है। विमर्श के अनेक पर्यायों का प्रयोग शैव साहित्य में मिलता है किंतु इस सिद्धि में इसके लिये उपाख्या (२, ३, ४), अवभास (५), परामर्श (६) अहन्ता (१५, १८, २२), व्यवस्थिति (१२), प्रतिष्ठा (१२), सिद्धि (१२) निर्वृति (१२), विमर्श (१५, १८), स्वरूपविश्रान्ति (१५), सोऽहम् (१५), प्रथन (१६), आत्मविश्रान्ति (२२), अहंभाव (२२), विश्रान्ति (२३), स्वातंत्र्य (२३), कर्तृत्व (२३), ईश्वरता (२३), ईशिता (२४), जगन्निर्मातृता (२४), स्वसंवेदनपर्याय (२५) और अनादिनन्त (२५) शब्दों का व्यवहार किया है।

प्रकाश और विमर्श नित्य सम्बद्ध हैं। विमर्श-रहित प्रकाश के अनुभव की कल्पना भी नहीं की जा सकती (१४)। प्रकाश को विमर्श-रहित मानने से अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न होंगी। तब वह चेतन न रहकर जड़-तुल्य हो जाएगा (६)। प्रकाशन से रहित प्रकाश स्वयं को ही प्रकाशित करने में असमर्थ होने के कारण दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित करने में असमर्थ होगा।

प्रकाश-विमर्श के पूर्ण सामरस्य में अर्थात् पूर्ण शिव में अहम्-इदम् का भेद नहीं है। किंतु जब वही पूर्णतत्त्व अपने स्वातंत्र्य के कारण अथवा स्वातंत्र्य के ही अन्तर्गत मानी गई अनेक शक्तियों में से एक माया शक्ति के कारण (२४) जगत् के रूप में स्वयं को आभासित करता है तब उसमें अहम्-इदम् के भेद का प्रादुर्भाव होता है। अतः भेद के प्रादुर्भाव का कारण विमर्श है। इतना ही नहीं, भेदों में परस्पर संयोजन-वियोजन और अभेद के अनुसंधान का कार्य भी इस विमर्श से ही सम्पन्न होता है। भेद-ज्ञान एवं अभेदज्ञान को संभव बनाने के लिये ही एक विमर्श की सत्ता मानी गई है (२५)।

इस प्रकार संवित् के स्वरूप में संवित्ति (विमर्श) अविच्छेद्यरूप में विद्यमान है। इसी संवित्ति के कारण संवित् के चेतनरूप की सार्थकता है जिसके बिना वह जड़ से भिन्न सिद्ध नहीं होता है। शान्तब्रह्मवाद से यही इस मत का मुख्य वैलक्षण्य है (द्रष्टव्य, कारिका ६ पर वृत्ति)। यही विमर्श संवित् के स्वरूप का बोधक और जगत् के प्रादुर्भाव, ज्ञान और लय का स्थान है।

पदार्थ का अस्तित्व

पदार्थ से सम्बद्ध विभिन्न पक्षों पर उत्पल ने लगभग ११ कारिकाओं में अपना सिद्धान्त स्पष्ट करने का प्रयास किया है। भौतिक पदार्थों के विषय में वस्तुवादी एवं आत्मवादी दर्शन-सम्प्रदायों के विचार परस्पर भिन्न हैं। एक वस्तु को सत्य मानता है तो दूसरा मिथ्या, विज्ञानाभास अथवा व्यावहारिक सत्य मानता है। इस विचार का मूल है सत्य की परिभाषा। उत्पल का मत है कि सत्य वह है जो प्रकाशमान हो। सत्य और प्रकाशमानता में अविच्छेद्य सम्बन्ध है। अतः सत्य का लक्षण प्रकाशन है। आत्मा प्रकाशित होता है, इसलिये सत्य है। इसी प्रकार घटादि पदार्थ भी अपने अस्तित्व का प्रकाशन करते हैं, बोध कराते हैं, इसलिये सत्य हैं। प्रकाशमान होते हुए कोई पदार्थ असत् नहीं हो सकता और कोई पदार्थ सत् होते हुए प्रकाशित न होता हो, यह सर्वथा असंभव है। प्रकाश और प्रकाशन के सामरस्य को पहले सिद्ध किया जा चुका है। इसलिये उत्पल के मतानुसार किसी वस्तु को सत्-असत् कहने का एकमात्र मापदण्ड प्रकाश-विमर्श है—चाहे वह वस्तु चेतन हो अथवा अचेतन (१२)। प्रकाशमानता

को सत् का लक्षण मानना इसलिये भी आवश्यक है कि इसके बिना सत्-असत् का भेद ही संभव नहीं होगा (५)। जो प्रकाशित होता है वह सत् और जो प्रकाशित नहीं होता वह असत्।

सत्य की उपर्युक्त परिभाषा पर विज्ञानवादी बौद्धों की कुछ आपत्तियाँ हैं। उनके मत में प्रकाशमानता चेतन का लक्षण तो हो सकता है किंतु अचेतन घटादि का नहीं (२, ३)। बौद्ध मतानुसार चेतन स्वयंप्रकाश होता है, प्रकाशन में स्वतंत्र होता है जबकि अचेतन परप्रकाश्य और परतंत्र होता है। इसलिये यदि प्रकाशमानता, जो कि चेतन का लक्षण है उसे अचेतन में मान लिया जाएगा तो एक ओर सत्-असत् की समस्या का निर्विवाद समाधान नहीं हो पाएगा तथा दूसरी ओर चेतन-अचेतन का भेद ही समाप्त हो जाएगा। अतः यही मान्यता उचित है कि चेतन स्वयं-प्रकाश है तथा उसीसे प्रकाश ग्रहण कर अचेतन प्रकाशित होता है। प्रकाशन में स्वतंत्र न होने के कारण अचेतन स्वतंत्ररूप से सत् नहीं है अर्थात् असत् है। बौद्ध का मत है कि अचेतन में प्रकाशमानता चेतन से आई है, अतः औपाधिक है (७)। वह उसका अविच्छेद्य स्वरूप या स्वभाव नहीं है। अतः अचेतन का लक्षण प्रकाशमानता नहीं किया जा सकता। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि बौद्ध मत में सत् का लक्षण क्या है? उत्तर है अर्थ-क्रियाकारित्व। प्रत्येक पदार्थ प्रयोजन विशेष का संवाहक है। यह प्रयोजन-विशेष ही पदार्थ का लक्षण है जो उसे असत् से तथा अन्य पदार्थों से भिन्न करता है।

बौद्धों की उपर्युक्त मान्यता पर शैव प्रतिक्रिया है कि किसी भी कारण से क्यों न हो जड़ पदार्थ प्रकाशित तो होता ही है। जड़ में प्रकाशन है—यही सिद्ध करना यहाँ मुख्य प्रयोजन है। यदि जड़ में प्रकाशन की यह सामर्थ्य पहले नहीं थी तो बाद में कहाँ से, कैसे व क्यों आई? वस्तुतः जड़ यदि अप्रकाश है, अप्रकाशन उसका स्वभाव है तो किसी भी माध्यम से उसे कभी भी प्रकाशनयुक्त नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार मानने से तो सर्वान्ध्य प्रसंग होगा और लोक व्यवहार की हानि होगी।

जहां तक अर्थक्रियाकारिता का प्रश्न है इस पर शैवों को वैसी ही आपत्ति है जैसी प्रकाशमानता पर बौद्धों को है। बौद्ध प्रकाशमानता को अचेतन का औपाधिक धर्म मानता है और शैव अर्थक्रियाकारिता को अचेतन

का औपाधिक धर्म कहता है। बौद्ध मतानुसार प्रकाशमानता चेतन में और अर्थक्रियाकारिता अचेतन में है। जबकि शैव पक्ष है कि प्रकाशमानता चेतन-अचेतन दोनों में अविच्छिन्नरूप से है। शैव दृष्टि के अनुसार अर्थक्रिया न केवल प्रमाता के अधीन है बल्कि प्रमाता में भी वह देशकाल आदि के भेद से बदलती रहती है। इसे वस्तु का लक्षण मानने में एक अन्य कठिनाई यह है कि इससे पूर्व वस्तु का सिद्ध होना आवश्यक है। पहले वस्तु होगी तब उसमें अर्थक्रिया संभव होगी। इस पृष्ठभूमि में यदि वस्तु असिद्ध है और उसमें अर्थक्रिया संभव न हो, यह तो ठीक है किन्तु वस्तु के सिद्ध होने के बाद अर्थक्रिया हो या न हो इससे वस्तु के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस तरह वस्तु को पूर्वतः सिद्ध या असिद्ध कुछ भी मानें दोनों ही स्थितियों में उसे (अर्थक्रिया को) वस्तु का स्वरूप या स्वभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता (८)।

अतः अर्थक्रियाकारित्व से नहीं, प्रकाशमानता से ही वस्तु के सत्-असत् का निर्णय किया जा सकता है फिर चाहे वह वस्तु चेतन हो अथवा अचेतन। अचेतन के विषय में शैव मान्यता बहुत स्पष्ट है कि वह लोक-व्यवहार में असत् की तरह भले ही प्रतीत हो किन्तु प्रकाशमानता के कारण उसका भी पूर्ण संवित् से सम्बन्ध है। अतः वह भी सत् है, चेतन है; असत् या अचेतन नहीं (१३)।

पदार्थ की संवित् में प्रतिष्ठा

प्रकाशमानता के लक्षणवाले भाव पदार्थों का अधिष्ठान क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में उत्पल कहते हैं कि अहम् से ही इदम् का प्रादुर्भाव हुआ था इसलिये अहम् में ही उसकी अन्तिम प्रतिष्ठा भी मानना उचित है (११)। परिमित एवं अपरिमित आत्मा (दोनों) को ही पदार्थों तथा इनके ज्ञानों की पर्यन्त भूमि कहा जा सकता है (१७) किंतु अभेद तथा पूर्णता के कारण अपरिमित आत्मा अथवा पूर्ण विमर्श ही समस्त पदार्थों का परम विश्रान्ति स्थान है (२०)। पदार्थों को इदम् के रूप में आभासित करने तथा पुनः अपने अहम् में एकाकार करते हुए उनमें अभेद का अनुसंधान करने की सामर्थ्य, विमर्श के कारण प्रकाश में विद्यमान है। यह सामर्थ्य निर्विमर्श प्रकाश अथवा जड़ में कदापि संभव नहीं है (२६)।

अद्वयवाद

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शैव मतानुसार समस्त जड़ पदार्थों का स्वभाव प्रकाशमानता है। यह अचेतन प्रमेय-समूह चेतन प्रमाता में विश्रान्त रहता है। परिमित प्रमाता और अपरिमित प्रमाता (१६) में स्वरूपगत भेद नहीं है (१७), इसलिये प्रमेय समूह को अपरिमित प्रमाता में विश्रान्त कहने में कोई असंगति नहीं है (२०)। प्रकाशन-स्वभाववाला प्रमेय-समूह पूर्ण-प्रकाश में विश्रान्त रहते हुए उसके स्वरूप को विकृत नहीं करता क्योंकि (अ) प्रमेयसमूह का आभासन पूर्ण प्रमाता के स्वातंत्र्य के फलस्वरूप हुआ है और (ब) संकुचित प्रकाश (प्रमेय-समूह) के महाप्रकाश (परम प्रमाता) में विश्रान्त रहने से उसमें किसी प्रकार के विकार की संभावना नहीं है (१८, ७५)।



ईश्वरसिद्धि

ईश्वरसिद्धि के अभिधान से ही स्पष्ट है कि इसका मुख्य प्रतिपाद्य ईश्वर को सिद्ध करना है। ईश्वर के अस्तित्व व स्वरूप की सिद्धि के अनेक पक्ष हैं जिनका उत्पल सहित अन्य शैवाचार्यों ने अपने-अपने अन्य ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन किया है। किंतु इस सिद्धि की ५६ कारिकाओं में ईश्वर-सिद्धि-विषयक उत्पल के लक्ष्य व प्रक्रिया की कुछ सीमाएँ हैं। इस सिद्धि में ईश्वर के अस्तित्व व स्वरूप को उद्घाटित व सिद्ध करने के लिये न तो शैवागम साहित्य के प्रमाण-वाक्यों का आश्रय लिया गया है और न ही प्रत्यभिज्ञादर्शन की विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली में नपे-तुले शब्दों के द्वारा ईश्वर का चमत्कारी वर्णन है। यही नहीं, कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इस सिद्धि में प्रस्तुत ईश्वर क्या वस्तुतः वैसा ही है जैसा कि प्रत्यभिज्ञादर्शन में महेश्वर के स्वरूप को स्थापित किया गया है। वास्तव में इस प्रकार की शंकाएँ स्वाभाविक हैं और उनका कारण है इस सिद्धि की रचना की सीमाएँ व विशिष्ट प्रयोजन।

इस सिद्धि में ईश्वर को पृष्ठभूमि में रखते हुए तथा मुख्य-रूप से कार्यकारणवाद की समस्या का विवेचन करते हुए उत्पल ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कार्योत्पत्ति का सर्वाधिक श्रेय चेतन निमित्त कारण

को है। प्रज्ञा, इच्छा, क्रियादि शक्तियों से सम्पन्न निमित्तकारण ही कार्य का वास्तविक कर्ता है। अचेतन उपादान और सहकारी कारणों में इस प्रकार की इच्छादि शक्तियों का अभाव है, अतः वे कार्य के वास्तविक कारण नहीं हैं। प्रधानकारणवाद, परमाणुकारणवाद, क्षणभंगवाद, शक्तिरहित चिन्मात्रकारणवाद आदि सभी मान्यताएँ निमित्तकारण के इस गौरव को या तो स्वीकार ही नहीं करतीं अथवा अपूर्णरूप में स्वीकार करती हैं। इसलिये ये सभी सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं, युक्तियुक्त नहीं हैं। उत्पल ने निमित्तकारण के इस गौरव को विशुद्ध युक्तियों के बल पर सिद्ध करने का प्रयास किया है और मुख्यरूप से सांख्य के प्रधानकारणवाद को अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया है।

ईश्वरसिद्धि के प्रतिपाद्य को अधोलिखित बिंदुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है—

१. कार्य का स्वरूप
२. कार्योत्पत्ति में निमित्तकारण का महत्त्व
३. सांख्य-सम्मत प्रधानकारणवाद व उसका खंडन
४. बौद्ध-सम्मत क्षणभंगवाद व उसका खंडन

कार्य का स्वरूप

कार्यकारणवाद के विवाद का मूल कार्य है। कार्य ही वह केन्द्र बिन्दु है जिस पर कारण की समस्त विवेचना निर्भर करती है। प्रत्येक दर्शन के कार्यकारणवाद के सिद्धान्त की नींव इस मान्यता पर रखी होती है कि वह दर्शन कार्य का अर्थात् जगत् का, भाव पदार्थ का क्या स्वरूप मानता है।

अजडप्रमातृसिद्धि (असि) में उत्पल ने कार्य अथवा पदार्थ-विषयक अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहा था कि समस्त भाव पदार्थों का स्वभाव प्रकाशमानता है। ये भाव पदार्थ महाप्रकाश के स्वातंत्र्य के कारण, उसी में अधिष्ठित एवं उसी में प्रादुर्भूत होते हैं। किंतु इस सिद्धि में कार्यकारणवाद के प्रसंग में कार्य के अन्य पक्षों को प्रमुखता दी गई है। एतदनुसार कार्य सन्निवेशविशेष हैं। इनकी विशिष्ट संरचना है जिनके कारण ये लोकव्यवहार में उपयोगी बनते हैं। जलाहरण आदि जो उपयोग घट के हैं वे मृत्तिका के नहीं हैं। अतः मृत्तिका व घट की सार्थकता भिन्न-भिन्न है।

घट की तरह शरीर, इन्द्रियाँ, भुवन आदि का भी अपना-अपना विशिष्ट सन्निवेश है। उत्पल ने यद्यपि परमाणु, आकाश, शशविषाण का सन्निवेश न मानने की बात कही है किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात न्यायपक्ष की ओर से तथा केवल तर्क के आग्रहवश कही गई है। अन्यथा शैवमतानुसार आकाश आदि भी ईश्वरकृत ही हैं। कार्य संख्या में अनेक, परस्पर साम्य-वैषम्य रखने वाले अतः विचित्र भी होते हैं। कार्य नियमपूर्वक उत्पन्न होने वाला तथा किसी न किसी रूप में अपने कारण से समानता तथा कुछ असमानताएँ रखने वाला होता है। उसकी उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति का विशिष्ट प्रयोजन है, सार्थकता है।

कार्य का उपर्युक्त स्वरूप प्रस्तुत करने में उत्पल ने अपने प्रत्यभिज्ञा मत के आग्रह का तो त्याग किया ही है साथ ही इसे कुछ इस तरह से भी प्रस्तुत किया है जिससे सभी पक्ष सहमत हो सकें। कार्य का यह वह सर्व-साधारण स्वरूप है जिस पर किसी दर्शन-सम्प्रदाय को कोई आपत्ति नहीं है।

कार्यकारणवाद की इस चर्चा का मुख्य लक्ष्य है ईश्वर को जगत् का कारण सिद्ध करना। अतः स्वाभाविक है कि घटादि कार्य की उत्पत्ति में घटित होने वाला सिद्धान्त ही जगत् पर लागू किया जाए। उत्पल ने इस पर पूर्वपक्ष की ओर से कुछ आपत्तियों का उल्लेख किया है। तदनुसार घटादि कार्य में घटित कारणवाद शरीर आदि पर तब लागू हो जब घट व शरीरादि में समानता हो। पूर्वपक्षी इनमें समानता नहीं देखता और यह भी आवश्यक नहीं मानता कि जगत् के कार्यकारणभाव का नियम जानने के लिये घट को ही प्रतिनिधि उदाहरण मानना चाहिये। घटोत्पत्ति किसी दूसरे निष्कर्ष की ओर ले जाती है और अंकुरोत्पत्ति किसी अन्य कारणवाद का संकेत करती है। दूसरी ओर क्या यह आवश्यक है कि जिस नियम से घटादि उत्पन्न हुए हों उसी नियम से शरीर आदि भी उत्पन्न हुए हों क्योंकि घट व शरीर में भी भेद है। इस प्रकार घट, अंकुर, शरीर व जगत् इन सभी कार्यस्वरूपों की चर्चा करते हुए उत्पल ने यह माना है कि शरीर आदि विश्व के ही नामान्तर हैं। इनमें परस्पर अनुकूलता है। जिस नियम से घटादि प्रादुर्भूत हुए हैं उसी नियम से शरीरादि भी अभिव्यक्त हुए हैं। शरीर लोकव्यवहार की रक्षा का माध्यम है, यह सभी पक्ष स्वीकार करते हैं—

लोकयात्रात्राणहेतुतापि शरीरादेः सर्ववादिसिद्धैव प्रत्यक्षत एव।

कार्योत्पत्ति में निमित्तकारण का महत्त्व

कार्यकारण की विचार-प्रक्रिया में कारण को उपादान, निमित्त आदि प्रकारों में विभाजित किया जाता है। उत्पल का स्पष्ट मत है कि इनमें निमित्तकारण ही सर्वप्रमुख है। निमित्तकारण के स्वरूप एवं महत्त्व को स्थापित करने के लिये ईश्वरसिद्धि में अधोलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं—

१. शरीर, इन्द्रिय आदि का कर्ता बुद्धिमान् है क्योंकि ये कार्य सन्निवेश-विशेष वाले हैं। जो-जो कार्य विशेष सन्निवेश वाला होता है वह-वह बुद्धिमान् कर्ता से सम्पादित होता है जैसे घट। जो कार्य बुद्धिमान् कर्ता से नहीं किये जाते वे कार्य विशिष्ट सन्निवेश वाले भी नहीं होते जैसे परमाणु, आकाश, शशविषाण आदि।

इस युक्ति के तात्पर्य को विस्तारपूर्वक समझाते हुए उत्पल कहते हैं कि यहाँ बुद्धिमान् मात्र से अन्वय है न कि बुद्धिमान् विशेष कुम्भकार या ईश्वर से। अनुमान प्रमाण में ऐसे प्रसंग नये नहीं हैं। खदिर वन में धूममात्र को देखकर अग्नि का अनुमान होता है। इस अनुमान के लिये खदिरविशेष या धूमविशेष की अपेक्षा नहीं रहती और धूमसामान्य से अग्निसामान्य का अनुमान स्वीकार किया जाता है। अथवा जैसे सांख्यमत में चक्षु आदि को संघात वाला हेतु बनाकर, इन्हें परार्थ सिद्ध करते हुए इनके द्वारा असंहत आत्मा का अनुमान किया जाता है। अतः उक्त युक्ति में बुद्धिमान् विशेष से नहीं, सामान्य से अन्वय दिखाना मुख्य प्रयोजन है।

उत्पल इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट बता देना चाहते हैं कि अनुमान से ईश्वरसिद्धि में कोई दोष नहीं है तथा यहाँ अन्य प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है। अनुमान से सिद्ध करने योग्य विषय को यदि पुनः अन्य प्रमाण से सिद्ध करना पड़े तो अनुमान का महत्त्व ही क्या रह जाएगा। इसलिये उनके मत में कार्य को सन्निवेश मानते हुए अनुमान में अग्रसर होने पर ईश्वरसिद्धि निर्विवाद है। जैसे सामान्य धूम से किसी भी स्थान पर साध्य अग्नि सिद्ध हो जाती है और वहाँ अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती ठीक वही स्थिति ईश्वर को सिद्ध करने में है (३२,३४–५)।

यहाँ प्रदेश-भेद से अग्नि के भेद की शंका व्यर्थ है क्योंकि इस भेद का कारण प्रदेश नहीं, धर्मी है। प्रदेश विशेष से सम्बद्ध होने पर भी अग्नि को

अग्नि ही कहा जाता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में शरीर आदि का कर्ता ईश्वर कहा जाता है (३६)।

२. लोकव्यवहार में देखा जाता है कि उपादानकारण कार्य के रूप में नूतन सन्निवेश को धारण करता है। जैसे एक द्रव्य अग्नि के स्वेद, पाक, दाह आदि के फलस्वरूप दूसरे सन्निवेश के रूप में अभिव्यक्त होता है। यही नहीं, यह परिवर्तन नियमपूर्वक होता है। इससे ज्ञात होता है कि इसका निमित्तकारण चेतन और स्वतंत्र है। अतः शरीरादि का निमित्त कारण भी स्वतंत्र तत्त्व ही है जिसकी संज्ञा प्रस्तुत प्रसंग में ईश्वर है। जिस प्रकार मृत्तिका के सन्निवेशविशेष का निर्मातृत्व ही कुलालत्व है उसी प्रकार परस्पर उपयोगी शरीर आदि विशेषों का सर्वकर्तृत्व ही ईश्वरत्व है। (३२–३)।

३. कार्य विचित्र और अगणित हैं। इनमें परस्पर भेद और अभेद दोनों हैं। कार्यों में परस्पर समानता और असमानता का आविर्भाव चेतन, सर्वज्ञ और स्वतंत्र निमित्तकारण के बिना संभव नहीं है। अतः इस प्रकार के विविध एवं समान गुणों वाले विश्व के निमित्तकारण को इसके अनुकूल इच्छा और निर्माण की सामर्थ्य से सम्पन्न मानना भी आवश्यक है (२३)।

प्रसंगानुसार यहाँ उपादान एवं सहकारी कारणों की भूमिका पर भी विचार आवश्यक है। उत्पल की मान्यता है कि विशिष्ट सन्निवेश वाला कार्य उत्पन्न करना उपादान कारण की सामर्थ्य से परे है (१८)। यथा शरीर के उपादान कारण तो शुक्र, शोणित आदि सिद्ध हैं किंतु मात्र इन्हीं को शरीर के विशिष्ट सन्निवेश का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि शरीर के चक्षु आदि अवयवों का भी वही उपादान कारण है जो अन्य अवयवों का है। किंतु चक्षु से अन्य अवयवों का अथवा प्रत्येक अवयवों में परस्पर भेद प्रसिद्ध ही है। सब अवयवों का एक प्रकार का उपादान कारण होते हुए भी सबके सन्निवेशों में पर्याप्त भेद है। इसी प्रकार मृत्तिका आदि एक-से उपादानों और सांसारिक पदार्थों की विचित्रता से उपादान का नहीं, अपितु निमित्तकारण का स्वातंत्र्य सिद्ध होता है (१५–२०)।

जहाँ तक सहकारी कारणों का प्रश्न है वे सन्निवेशविशेष में रूप, रस आदि का भेद मात्र करते हैं। जैसे स्वच्छ जल में ऊष्मा का संपर्क (४)। कारण को संस्थानविशेष में लाने में उन्हें उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता (६)।

यहाँ सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब प्रत्येक कार्य का अपना सन्निवेश है, कार्य अगणित, अनन्त हैं तो इनके निमित्तकारण अथवा कर्ता भी स्वाभाविकरूप से अनेक होना चाहिये। किन्तु उत्पल का पक्ष यह है कि नाना पदार्थों के निर्माण की इच्छा और सामर्थ्य रखने वाला निमित्तकारण अर्थात् ईश्वर एक ही है क्योंकि अनेक मानने में प्रमाणों का अभाव है (२३)। इस प्रसंग में उत्पल अयस्कार का उदाहरण देते हैं। यद्यपि रथ आदि के निर्माण में सुथार की उपयोगिता है किन्तु वह रथ के आधारभूत लोहे का संयोजन करने में कुशल नहीं है। यह कुशलता लोहकार को प्राप्त है। इसलिये रथ का वास्तविक कर्ता लोहकार ही है। इसी प्रकार शरीर आदिरूप विश्वनिर्माण में वास्तविक कर्तृत्व ईश्वर का है, अन्य किसी का नहीं और वह ईश्वर एक ही है।

सांख्यसम्मत प्रधानकारणवाद

ईश्वरसिद्धि में शैव अद्वयवाद का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी द्वैतवादी निरीश्वर सांख्य दर्शन है। उत्पलाचार्य ने सांख्यमत को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करते हुए उसकी असंगतियों का उद्घाटन करने का यथासंभव प्रयास किया है। दर्शनद्वय का मतवैभिन्य स्पष्ट है—एक अद्वयवादी है, दूसरा द्वैतवादी; एक पूर्ण चेतन तत्त्व से जगत् की अभिव्यक्ति मानता है तो दूसरा इसके सर्वथा विपरीत चेतन-निरपेक्ष अचेतन के परिणाम के रूप में जगत् को देखता है; एक के मत में अचेतन असत् का पर्याय है तो दूसरे मत में अचेतन भी स्वतंत्ररूप में उतना ही सत्य है जितना कि चेतन; एक दर्शन-दृष्टि क्रिया को चेतन का अविभाज्य स्वरूप मानती है तो दूसरी दृष्टि में चेतन सर्वथा निष्क्रिय है तथा क्रिया अचेतन का वैशिष्ट्य है। इसी प्रकार सांख्यदर्शन में प्रकृति-पुरुष की एकता व अनेकता के प्रश्न भी शैव मत से वैमत्य रखते हैं।

उत्पलाचार्य ने सांख्य के प्रधानकारणवाद को पूर्वपक्ष के रूप में जिस प्रकार प्रस्तुत किया हैं उसके प्रमुख बिन्दु, संक्षेप में ये हैं—

१. इस जगत् का कारण प्रधान अथवा मूलप्रकृति है। सत्त्व, रज एवं तम की साम्यावस्था ही मूला प्रकृति है।

२. महत् आदि अथवा शरीर, इन्द्रिय आदि विकाररूप कार्य संघात हैं। कार्यों में नानात्व तथा वैचित्र्य दिखाई देता है।

३. संघात का कारण एक नहीं, अनेक हैं। गुणत्रय परस्पर अंग व अंगी बनकर विकारों के रूप में परिणत होते हैं।

४. कार्यों में विचित्रता इसलिये दिखाई देती है कि उनके कारणों में विचित्रता है। कारण स्वयं विचित्र वृत्ति वाले होते हैं। जैसे जल, भूमि, रस आदि सहकारी कारणों की वृत्तियाँ अलग-अलग हैं और जब वे बीज में मिलकर उसी बीज का अंग बन जाते हैं तब बीज से अलग-अलग सन्निवेश वाले अंकुर उत्पन्न होते हैं।

५. कार्य के आविर्भाव में सहकारी कारणों की भूमिका मात्र इतनी है कि वे उपादान कारण में कुछ ऐसा अतिशय उत्पन्न करते हैं जिससे उपादान कारण से आविर्भूत होने वाला कार्यरूप संस्थान पूर्वक्षण से कुछ विलक्षण होकर आविर्भूत होता है।

६. उपादान कारण से कार्य की अभिव्यक्ति के लिए निमित्तकारण को मानना अनावश्यक है। उपादान कारण ही प्रत्यक्ष-सिद्ध है। जब कि निमित्त-कारण अप्रत्यक्ष है, प्रमाणसिद्ध नहीं है। बीज से अंकुरोत्पत्ति में कोई निमित्तकारण दिखाई नहीं देता है।

७. विकृतियों को उत्पन्न करना प्रकृति का स्वभाव है। प्रकृति की परिणमनरूप यह क्रिया पुरुष के भोग-मोक्ष का कारण बन जाती है, यद्यपि अचेतन होने के कारण प्रकृति को इसका आभास नहीं होता है। प्रकृति से विकृतियों की अभिव्यक्ति का यही पुरुषार्थरूप प्रयोजन है। परिणमन का यह स्वभाव ही निमित्तकारण भी कहा जा सकता है। जैसे बीज से स्वाभाविकरूप से अंकुरोत्पत्ति होती है और अनजाने ही वह अंकुर लोकोपयोगी बन जाता है। अतः जिस प्रकार अंकुरण बीज का पुरुषार्थ है उसी प्रकार विकृतियों के रूप में परिणमन प्रकृति का पुरुषार्थ है।

८. एक स्थान से दूसरे स्थान में संक्रमण क्रिया है। यह जिस देश में संक्रमित होती है उसी के आकार आदि को ग्रहण कर लेती है। यही क्रिया का स्वरूप है।

९. भोक्ता एवं भोग्य के सम्बन्ध का प्रश्न अत्यन्त जटिल है। भोग्य से भोक्ता का अनुमान होता है। तथापि भोक्ता व भोग्य को अभिन्न समझना अज्ञान है तथा भेद की अनुभूति विवेकज्ञान है। भोक्ता-भोग्य में स्वस्वामि-भावसम्बन्ध होता है, न कि भोक्ता स्वयं भोग्य बन जाता है। भोग्य स्वयं-

प्रकाश नहीं हैं। भोक्ता का सान्निध्य ही उन्हें चित्त में प्रकाशित होने की सामर्थ्य प्रदान करता है। किंतु वास्तव में अचेतन भोग्य ही परस्पर उपकार्य-उपकारक बनते हैं। पुरुष को उपकार्य कहना मात्र उपचार है क्योंकि उसके सान्निध्य के फलस्वरूप पदार्थ चित्त के आकार को धारण कर प्रकाशित होते हैं।

उत्पलाचार्य ने स्वयं सांख्य के प्रधानकारणवाद के दृष्टिकोण से ईश्वराद्वयवाद पर कतिपय आक्षेप किये हैं। जैसे—

चित् व अचित् परस्पर अत्यन्त भिन्न स्वभाववाले हैं। इन दोनों का एक तत्त्व में रहना संभव व युक्तियुक्त नहीं है। इसी प्रकार एक ही तत्त्व का उपकारकरूप में अचेतन बनना तथा उपकार्यरूप में चेतन बनना व पुनः अपने में ही रहना असंभव है। साथ ही अचेतन से चेतन को उपकृत मानना भी इसलिये अनुचित है कि चेतन चिन्मात्रवपु होता है जिसे किसी उपकार की अपेक्षा नहीं है।

चेतन तत्त्व अपने ही अंगभूत जडपदार्थ के स्पर्श से उपकार ग्रहण करता है—ऐसा मानना भी संभव नहीं है क्योंकि तब चिद्रूप में न्यूनाधिक्य मानना पड़ेगा और इस प्रकार चेतन अचेतन सिद्ध होगा क्योंकि न्यूनाधिक्य चेतनता का नहीं, जडता का लक्षण है।

कार्य के सभी पक्षों की व्याख्या केवल उपादान कारण को मानकर की जा सकती है जो प्रमाणसिद्ध है; तब प्रमाण से असिद्ध निमित्तकारण के रूप में एक ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है। फिर भी निमित्तकारण के प्रति यदि आग्रह है तो जब जिस प्रकार के सन्निवेशविशेष से पुरुष का प्रयोजन सिद्ध होता हो वहाँ उतने गुणस्वभाव को ही कार्य का निमित्तकारण माना जा सकता है।

प्रधानकारणवाद के खण्डनार्थ प्रस्तुत युक्तियाँ

१. प्रधान की सिद्धि मात्र से ईश्वर के अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता (न हि प्रधानसिद्धिमात्रेणैव ईश्वरनिराकृतिः स्यात्···)।

२. उपादानकारण होने से अचेतन प्रधान, परमाणु का स्थानापन्न ही है। यह निमित्तकारण का स्थान नहीं ले सकता (···उपादानकारणतया परमाणुस्थान एव प्रधानस्य मूलकारणत्वेन समर्थनात्। प्रधानव्यवस्था

विश्वस्य उपादानकारणविचारप्रस्तावे प्रमेयी भवति, न तु निमित्तकारणोपपादनप्रक्रमे)।

३. प्रकृति बिना किसी निमित्तकारण के स्वाभाविकरूप से इस जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि विशिष्ट सन्निवेशवाला, भेदाभेदमय तथा विविध विश्व यदृच्छया उत्पन्न नहीं हो सकता। विश्व के नियमपूर्वक रचनाकौशल को देखते हुए इसका उपादान कारण और निमित्तकारण अचेतन को नहीं माना जा सकता (न हि यदृच्छया वर्तमानायाः कार्यवर्गस्य देवमानुषतिर्यग्योनिरूपस्य तदवान्तरजातिवैचित्र्यवतो नियमेन स्त्रीपुंससंस्थानद्वयस्य वा अन्योन्यानुण्यमुपपद्यते । '...न स्यात् क्रियाव्यूहविधिस्तथायं यादृच्छिका... ।')

४. यदृच्छावाद के अनुसार उत्पन्न हुआ कार्य लोकोपयोगी नहीं हो सकता (...एषां सप्रकृतिकानां व्यूहविभवभावेनावस्थितानामशेषविकाराणाम् इतरेतराङ्गाङ्गिभावगमनं लोकयात्रोपयोगितया तावत्संनिवेशविशेषफलं निरर्थकम्)।

५. भोग्य से भोक्ता का अनुमान उचित नहीं है क्योंकि सन्त स्वयं पदार्थों को खरगोश के सींग की तरह (असत्) मानते हुए उनकी भोग्यता का निषेध करते हैं (सन्तोऽपि हि सविधमुपयान्तोऽर्थाः शशविषाणकल्पाः प्रकल्पन्ते । अतः संविदौत्सुक्येन तदर्थतयैव तद्भोग्यस्वभावा एव--इति भोग्यादपि भोक्तुः संवित्स्वभावस्य आत्मतत्त्वस्य सिद्धेरनुपपन्नमेव प्रमाणम्)।

६. भावपदार्थों का चित्तभूमि में प्रकाशन होने से उनमें स्वस्वामिसम्बन्ध है—ऐसा स्वीकार करने मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि भोक्ता कारण है और भोग्य कार्य। बृहदारण्यक उपनिषद् (विज्ञातारमरे केन विजानीयात् १४-५-१५) भी भोक्ता और भोग्य में अभेद की पुष्टि करता है (७२)।

७. सांख्य मत में गुणों की भूमिका अस्पष्ट व असंगत है। गुणों को स्वतंत्र तथा पुनः एक दूसरे के अधीन मानना, फिर उन्हें चिद्रूप मानना इत्यादि मान्यताएँ असंगत हैं। इससे एक ओर चित् तत्त्व विकृत होकर सिद्ध ही नहीं होगा तथा दूसरी ओर गुणों के स्वातंत्र्य स्वरूप की हानि होगी। अतः यह अस्पष्टता बनी रहती है कि गुण अपने लिए हैं या परस्पर उपकार्योपकारक हैं (एवं च गुणानामभ्युपगमेन चिद्रूपतापत्तिप्रसंगेन गुणताहानेः । अत एव एषां स्वार्थता न युक्ता)।

८. गुणों के परस्पर उपकार्योपकारक होने का अर्थ होगा कि एक ही गुण भोक्ता और भोग्य के परस्पर विरोधी रूपों को धारण करेगा जो अनुचित है (तस्यैवेकस्य विरुद्धोभयभोक्तृभोग्यरूपतापत्तेः····)।

९. सांख्य की यह मान्यता कि विकृतियों को उत्पन्न करना ही प्रधान का स्वभाव है, यह स्वभाव ही निमित्तकारण है और विकृतियाँ, अनज.ने में ही पुरुष के भोग-मोक्ष का कारण बनें–यही कार्याभिव्यक्ति का प्रयोजन है— ठीक नहीं। एक ही तत्त्व प्रयोजन और निमित्तकारण नहीं हो सकता। भोग-मोक्षरूप प्रयोजन सृष्टि के बाद में संपादित होने वाला है और निमित्तकारण की आवश्यकता सृष्टि के पूर्व है (न तु भाविप्रयोजनमनागतमेव निमित्ततां गच्छेत्)।

१०. सांख्य मत चित्त में धर्म, ऐश्वर्य आदि आठ गुण मानता है। जिस प्रकार चित्त सत्कार्यवादानुसार कारण प्रधान में अभिव्यक्ति से पूर्व विद्यमान था उसी प्रकार ये आठ धर्म भी प्रधान में विद्यमान होने चाहिये। इन धर्मों में ऐश्वर्य भी है। अतः इस ऐश्वर्य को इस भय से निमित्तकारण स्वीकार न करना कि इससे ईश्वर सिद्ध हो जाएगा -अनुचित है (तत्स्वभावानुग्रहादेव च शरीरविषयेन्द्रियादिकचेतः पूर्वापरभूमिकावस्थायिनि कार्यवर्गे धर्मादिकर्मापि निमित्तकारणतया प्रभवेत्)।

११. उत्तरोत्तर विकाररूप परिणाम में यदि प्रकृति का पुरुषार्थ-स्वभाव निमित्तकारण है क्योंकि वह परिणाम के पूर्व विद्यमान है, तब नित्य होने के कारण उसे समस्त विकार-समूह के उत्पन्न होने के बाद अन्त में भी विद्यमान रहना चाहिये। इस प्रकार नित्य सृष्टि-उत्पत्ति का प्रसंग होगा। आरम्भ में मानने और अन्त में न मानने में असंगति है (तदत्र पूर्वत्र परिणामे चेत्पुरुषार्थोचितोत्तरोतरविकारकारिणि निमित्तकारणं पुरुषार्थताःस्वभावः प्रकृतेस्तत्सकलविशेषपर्यन्तेऽपि विकारराशौ स एवास्तु किमर्धजरतीयन्यायाभिनिवेशेन)।

१२. कार्योत्पत्ति में प्रधान की पुरुषार्थस्वभावना ही निमित्तकारण है, ईश्वर अनावश्यक है तो बिना कुम्भकार के मृत्तिका मात्र से घट क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ? (यदि हि सर्वविचित्रसंस्थानकार्योत्पादनेषु प्रधानस्यैव या पुरुषभोगार्थता सैव निमित्तकारणं किमीश्वरेणेति उच्यते तत्कुम्भकारेणापि किं घटकरणे ?)।

यदि घट-निर्माण में मृत्तिका को दण्ड, चक्रादि की तरह, (कुम्भकार-रूप) बुद्धिमान् की भी अपेक्षा है—ऐसा माना जाता है तब यह क्यों नहीं माना जा सकता कि शरीरादि निर्माण में भी बुद्धिमान् की अपेक्षा है ? (अथ प्रधानस्यायमपि स्वभावविशेष एव, यद्घटसंनिवेशादौ दण्डचक्रवद्-बुद्धिमदपेक्षा ···तदेवमेव तनुकरणादिकारणस्यापि प्राधानिकात्तथास्वभाव-योगात् कथं तथाकरणयोग्यबुद्धिमदपेक्षा नेष्यते ?)।

१३. उपादानकारण और सहकारी कारण अचेतन होते हैं, इच्छा, ज्ञान, अनुसंधान से शून्य होते हैं। अतः इनमें लोकोपयोगी तथा प्रयोजन-विशेष को सिद्ध करने वाले कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं हो सकती (न चापि सहकारिणामुपादानकारणस्यान्तःप्रवेशमात्रादुपयोगविशेषा-नुसंधानवतः कस्यचिदव्यापारेऽपि विचित्रा पुरुषार्थोपयोगिनी रचना उप-कल्प्यते)।

१४. प्रधान से विकृतियों की अभिव्यक्ति ज्ञान तथा इच्छापूर्वक नहीं होती है जबकि पुरुषार्थसिद्धि के लिए ऐसा कार्य अपेक्षित है जो उपयोग की इच्छा तथा ज्ञानादिपूर्वक अभिव्यक्त किया गया हो अन्यथा वह इष्टसिद्धि करने में समर्थ नहीं होगा और कारण का प्रयोजन पुरुषार्थ मानना ही व्यर्थ हो जाएगा (न च प्रधानस्यैव मूलकारणस्य व्यवसायादिभिर्व्यक्तिरस्ति तत्कथं तस्येच्छादियोगः पुरुषार्थोद्देशानीतः स्यात् यतः प्रवृत्तिर्भवेत्)।

१५. बुद्धि में इच्छानुसंधानरूप व्यापार स्वीकार करने से समस्या का समाधान नहीं होता क्योंकि पुरुष के सान्निध्य से जब तक बुद्धि में चैतन्य का प्रकाशन न हो तब तक वह बुद्धि इच्छादि को धारण नहीं कर सकती—यही सांख्य सिद्धान्त है। इससे विपरीत अर्थात् बुद्धि को चेतन माने अथवा पुरुष के प्रतिबिंबन से पूर्व ही अचेतन बुद्धि में इच्छादि को मानें तो एक ओर सिद्धान्त की हानि होगी तथा दूसरी ओर पुरुष के ज्ञानात्मक व्यवहार को भी पुरुषार्थ कहने की स्थिति आएगी (यद्यपि च बुद्धेरस्तीच्छानुसंधानं च व्यापा-रस्तथापि पुरुषसंनिधानाद्यावन्न चेत्यमानः प्रकाशमानो ऽसौ संपन्नस्तावन्नेच्छा-दिरूपतां धत्ते तथालक्षणत्वादिच्छानुसंधानादीनाम्। अन्यथार्थान्तरमेव तत्स्यात्। तथा च सति न बुद्धिप्रवृत्तिरेव पुरुषार्था यावत्पुरुषस्य संवेदन-व्यापारोऽपि पुरुषार्थः स्यात्···)।

१६. अचेतन प्रधान, बुद्धि आदि का कोई व्यवहार पुरुष के लिये होता

है ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि उस व्यवहार को निश्चित करने में पुरुष की कोई भूमिका नहीं है तथा अचेतन में ऐसा ज्ञान संभव नहीं है ("'तस्मात् पुरुषनैरपेक्ष्येण प्रधानबुद्ध्यादिव्यापारस्य पुरुषार्थता न वाच्या, तादृशस्य चेष्टानुसंधानरूपत्वाभावात् न सा युक्ता''')।

१७. पुरुषार्थ के अनुसंधान की इच्छा पहले होना चाहिये और फिर तदनुसार, ज्ञानादिरूप व्यवहार होना चाहिये किंतु सांख्य इसके विपरीत पहले प्रधान को मानता है और इच्छा-बुद्धि सम्पन्न महत् को बाद में, जो कि युक्ति-युक्त नहीं है ('''न तया उत्तरकालभाविन्या प्रधानस्य महतो वा पुरुषार्थानुसंधानेच्छावत्ता युज्यते'''येन तस्यापि बुद्धिपूर्वकारिता स्यात्''')।

१८. प्रकृति का समस्त व्यापार यदि सर्व पुरुषसाधारण है तो एक पुरुष इस सर्वपुरुषार्थ-वृत्ति का कैसे ज्ञान प्राप्त करेगा ? यदि प्रतिपुरुष उसका व्यवहार भिन्न-भिन्न है तो प्रत्येक पुरुष सर्वज्ञ हो जाएगा—जो अनुपयुक्त है (न च वृत्तौ पुरुषेणासंविदितायामिच्छानुसंधानादिरूपत्वं संभवति, पुरुषेणापि प्रधानवृत्तेः केन संवेद्यमानता सर्वपुरुषोद्देशेन सामान्यप्रवृत्तेः एकैकेन चेत् तत्तस्य सर्वज्ञत्वं स्यात्''')।

१९. प्रकृति का पुरुषार्थ-स्वभाव नित्य मानना होगा जिससे विवेकी अथवा मुक्त के लिये भी प्रकृति प्रवृत्ति करती रहेगी (पुरुषार्थत्वं च पूर्ववत्सर्वपुरुषोपयोगि स्वकार्यानुसंधानवत्त्वात्''')।

२०. अनन्त पुरुष मानने पर उनके सान्निध्य से प्रकृति में भी अनन्तता आ जाएगी क्योंकि प्रकृति पुरुष के प्रकाश से प्रकाशित होने वाली है। किंतु प्रकृति अनन्त नहीं, एक है इसलिये एक प्रकृति को आधार बनाकर वे अनन्त प्रकाश एक दूसरे का उन्मूलन करेंगे और इस प्रकार पुरुष बहुत्व की अवधारणा निरर्थक सिद्ध हो जाएगी (प्रकाश्यधर्मभूतायाश्च प्रकाशस्थानताया अनन्तपुरुषसंनिधानातीतत्वादानन्त्येऽपि आश्रयैक्येन अन्योन्योन्मूलनात्पुरुष-बहुत्वासिद्धिः)।

२१. प्रकृति के स्वभाव को पुरुषार्थ कहना उपचार मात्र है, निमित्त-कारण का वस्तुतः सर्वथा अभाव है, इत्यादि समाधान संतोषप्रद नहीं हैं क्योंकि तब मुक्त पुरुष के लिये भी उसकी प्रवृत्ति सदैव होती रहेगी और मोक्ष अथवा कैवल्य की अवधारणा व्यर्थ होगी ('''पुरुषभोगार्थमिव कारणानां प्रवृत्तिरित्युपचारेण पुरुषार्थता उच्यते तदेतदपि न युक्तम्। यत

एवं सति वस्तुतो निमित्तकारणाभावात् स्वातंत्र्येण स्वभावादेव कारणानां तथाविधकार्यविशेषकारितेति दृष्टे प्रकृतिपुरुषान्तरे तमेव पुरुषं प्रत्यपि तेषां कथं कार्यकरणाय प्रवृत्तिर्नभवति···)।

२२. प्रकृति सर्वपुरुषसाधन भी बनी रहे तथा एक मुक्त पुरुष के लिये उसकी प्रवृत्ति निरुद्ध भी रहे यह परस्पर विरोधी व असंगत मान्यता है। इसी के साथ यह भी प्रश्न उठेगा कि जब प्रकृति के धर्माधर्मादि आठ रूप वस्तुतः एक हैं, जिनमें अज्ञान भी है तब इनमें से कौन-सा धर्म सर्वपुरुष साधारण कहलाएगा जब कि मोक्ष-प्रसंग में एक मुक्त पुरुष के लिए प्रकृति का यह व्यवहार अवरुद्ध हो गया है (···एकस्य प्रकृतिपुरुषान्तरज्ञानादेव सा निरुध्यते, सर्वपुरुषसाधनत्वं कस्याः प्रकृतेरेकरूपत्वात् अष्टानां प्रकृतीनां···)।

२३. विवेकी पुरुष कृतार्थ हो जाने के कारण, उत्पन्न शरीरादि से प्रभावित नहीं होता, शरीरादि से संवेद्यमानता स्थापित नहीं करता इत्यादि समाधान इसलिये संतोषप्रद नहीं हैं कि स्वयं सांख्य के मतानुसार पुरुष परमार्थतः अभिप्राय, अतिशय, प्रयास आदि से शून्य व उदासीन है। अतः उसकी कृतार्थता की बात ही असंगत है क्योंकि वस्तुतः उसके कृतार्थ होने पर उसके कूटस्थरूप की हानि होगी (···किंतु पुरुषस्य कृतार्थत्वात् न तदुत्पन्नमतिसंवेद्यतां याति ···इति यावता सर्वदा निरभिप्रायो निरुद्यम एव चैकरूप उदासीनः पुरुषो न तस्यैकदातिशययोगोऽन्यदा तन्निवृत्तिः कूटस्थताहानिप्रसंगात् ।

२४. बुद्धि अथवा अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को प्रत्येक पुरुष के कर्मानुसार भिन्न-भिन्न व नियत मानना ठीक नहीं क्योंकि पुरुषों का नहीं, अन्तःकरण का कर्म ही नियामक होता है (न हि पुरुषाणां कर्म नियामकमपि तु अन्तःकरणस्यैव)।

२५. क्षीणकर्म वाला अन्तःकरण विषयों को आत्मसात् करके प्रकाशन के अपने स्वभाव से विरहित हो जाता है, इसलिये विवेकी के उनसे प्रभावित होने का प्रश्न नहीं है—ऐसी व्याख्या में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि तब प्रकृति-पुरुष के विवेक से नहीं, कर्मों के भावाभाव से बन्धन व मोक्ष स्वीकार करना होगा जिससे सांख्य-सिद्धान्त की हानि होगी (अथ क्षीणकर्मणोऽन्तःकरणस्य न संवेद्यतास्वभाव उच्यते तदत्र किं प्रमाणम् ? कर्म-

भावाभावाभ्यां च तदानीं बन्धमोक्षाभ्युपगमः स्यात् न संयोगवियोगाभ्यां, ततश्च दर्शनक्षतिः)।

इस प्रकार सांख्य के प्रधानकारणवाद की विस्तृत आलोचना का उपसंहार करते हुए उत्पल कहते हैं कि सांख्य के स्वाभाविक पुरुषवाद में विवेकी पुरुष का बुद्धि से कभी-भी सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होगा जिसके कारण मोक्ष असंभव हो जाएगा। अतः प्रधान की संसारोपयोगी प्रवृत्ति के लिये यह आवश्यक है कि उसमें बुद्धिमान् पुरुष की प्रेरणा को स्वीकार किया जाए। सांख्य ऐसा नहीं मानता है, इसलिये उसका सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है। इसके साथ ही उक्त आलोचना के द्वारा यह भी स्पष्ट है कि द्वैतवाद में भी ईश्वर उसी प्रकार सिद्ध व स्पष्ट है जैसे गहन रात्रि में वह्नि का प्रकाश स्पष्ट भासित होता है। किन्तु इसे मोहित चित्त वाले द्वैतवादियों का दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिये कि अगणित तर्कों से सिद्ध ईश्वर भी उनकी समझ से वैसे ही विलुप्त रहता है जैसे हथेली पर रखी हुई उज्ज्वल मणि दुराग्रही व प्रज्ञाशून्य पुरुष को नहीं दिखाई देती है।

बौद्ध-सम्मत क्षणभंगवाद

ईश्वरसिद्धि में सांख्य के बाद दूसरा प्रमुख आलोच्य मत बौद्धों का है। शैवों के चेतनाद्वयवाद से बौद्धमत, विशेषतः विज्ञानवाद, उतना भिन्न नहीं है जितना कि द्वैतवादी व अचेतनकारणतावादी सांख्य का मत भिन्न है। इस सिद्धि में धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक से दिये गये उद्धरण एवं आलोचना के प्राप्त विवेचन से स्पष्ट है कि उत्पल ने सामान्यरूप से विज्ञानवाद एवं विशेषरूप से धर्मकीर्ति के मत को ही बौद्ध दर्शन का प्रतिनिधि मत मानते हुए, उसकी कतिपय अवधारणाओं का प्रसंगानुसार खण्डन किया है।

बौद्ध दर्शन क्षणभंगवादी है। अतः चेतन अथवा अचेतन किसी भी प्रकार के तत्त्व की नित्यता में उसका विश्वास नहीं है। विज्ञानवाद के मतानुसार, यह व्यावहारिक जगत् विज्ञान का आभास ही है। सांख्य के प्रधानकारणवाद के खण्डन-क्रम में उत्पल ने विज्ञानवाद के तीन बिन्दुओं को मुख्यरूप से विचारार्थ लिया है—स्वलक्षण, अर्थक्रियाकारित्व तथा क्रिया। एतदनुसार प्रत्येक भाव पदार्थ जैसे घटादि स्वलक्षणरूप है। वे क्षणिक होने के साथ अपनी पहिचान सबसे अलग, विशिष्ट रखते हैं (···घटादि स्वलक्षणो विशिष्ट एव सन्निवेश···)। ये क्षणिक भाव पदार्थ

अपने क्षणिक जीवन में ही किसी सार्थक क्रिया को सम्पादित करते हैं। यही इनके क्षणिक सत् होने की सार्थकता है। इस प्रकार स्वलक्षण एवं अर्थक्रियाकारित्व से भाव पदार्थों की अनेकता, विविधता, सार्थकता, क्रियाशीलता तथा इनमें परस्पर भेद का अनुमान होता है (सामान्यानां गुणानां क्रियाणामन्येषामपि वा धर्माणामर्थक्रियाकारिस्वलक्षणनिष्ठतयैव पृथक्कारणोपयोगस्य सिद्धेः···)।

इस प्रकार वस्तु के क्षणिक अस्तित्व और स्वरूप की सिद्धि के लिए स्वलक्षण व अर्थक्रियाकारित्व ही पर्याप्त हैं तथा अन्य किसी अदृश्य तत्त्व को मानने की आवश्यकता नहीं है। जिस तथ्य का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से हो रहा हो वहाँ अनुमान की आवश्यकता नहीं है। वस्तु का स्वभाव अर्थक्रियाकारित्व है जिसकी प्रत्यक्ष से सिद्धि हो रही है। अतः फिर वहाँ अनुमान से ईश्वर की कल्पना करने से अनवस्था दोष आएगा। (न च दृश्यमानार्थयोगितोपपन्नं वस्तु अदृष्टकल्पनाय अंगतामुपनयति···। यद्यपि स्वलक्षणापेक्षया दर्शनादर्शनाभ्यां कार्यं प्रतीयते···)।

जहाँ तक कार्यकारणवाद का प्रश्न है एक क्षणिक वस्तु के बाद दूसरी सजातीय क्षणिक वस्तु का प्रादुर्भाव ही लोकव्यवहार में कार्यकारण भाव कहा जाता है। एक वस्तु में जैसे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है वैसे ही एक क्षणिक वस्तु का एक स्थान छोड़कर (अथवा कहा जा सकता है, उपादान स्थान को छोड़कर) दूसरे स्थान में संक्रमित होना (अथवा कार्यरूप या संस्थानान्तररूप में आविर्भूत होना) ही क्रिया है। क्रिया का यही स्वरूप है कि वह जिस स्थान में संक्रमित होती है उसी स्थान के परिणामरूप होती है। जैसे वायु वह्नि आदि भाव पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते हैं उसी प्रकार विशेष सहकारी कारणों के सहयोग से, विभिन्न भाव क्षणों का प्रतिक्षण संक्रमण होता रहता है। इसलिये पूर्ववर्ती भावक्षण परवर्ती भावक्षण से सजातीयता रखता है और इस सजातीयता को ही ध्यान में रखते हुए यदि लोकव्यवहार में पूर्ववर्ती भावक्षण को कारण तथा उत्तरवर्ती भावक्षण को कार्य कह दिया जाए तो इससे सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता (क्रियापि देशान्तराक्रमलक्षणा न तद्देशपरिणामवद्रूपातिरिक्ता काचिदुपलभ्यते। तेन यथैकोपादानदेशे एव प्रतिक्षण परिणामस्तथा देशान्तरस्थितरूपतया यदि स्यात् तत् को विरोधः। ···वायुवह्निप्रभृतीनामपि भावानां दिगन्तराक्रमणं नियमेन यथा भावे तथा

तथाविधसहकारिकारणविशेषसाहित्यात् नियमेन । सजातीययोग्यकार्योत्था-पनसमर्था अपि ते यदि स्युस्तत्र किञ्चिद्दुष्येत्)। जो दर्शन-सम्प्रदाय कारण को कूटस्थ व नित्य मानते हैं उनके लिये कार्यकारणभाव की व्याख्या में समस्या हो सकती है किंतु क्षणभंगवाद में इस प्रकार की कोई कठिनाई या दोष नहीं है (कूटस्थनित्यताभ्युपगमे भावानामेष दोषो न तु क्षणपरि-णामनये···)।

क्षणभंगवाद का खण्डन

उत्पल ने बौद्ध मत की उक्त अवधारणाओं की संक्षिप्त किंतु अत्यन्त स्पष्टरूप से आलोचना करते हुए इनकी असंगतियों को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। उनकी युक्तियों का सार-संक्षेप इस प्रकार है—

१. सन्निवेश, अथवा घटादि कार्य को स्वलक्षण से विशिष्ट नहीं माना जा सकता। क्योंकि इस रूप में वह प्रमाणसिद्ध नहीं है। कार्य दो प्रकार के कहे जा सकते हैं—(अ) वे कार्य जिनका कर्ता प्रत्यक्ष-सिद्ध है। जैसे घटादि का कर्ता कुम्भकार है। (ब) वे जिनका कर्ता प्रत्यक्षतः दिखाई नहीं देता। जैसे बीज से अंकुर बनने में किसी चेतन कर्ता का प्रत्यक्ष नहीं होता है। उत्पल का तर्क यह है कि दृष्ट कर्ता वाले कार्यों को देखकर अदृष्ट कर्ता का अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि कार्य की दृष्टि से तो दोनों प्रसंग समान हैं। स्वयं बौद्ध भी मानता है कि सभी कार्य स्वलक्षण वाले हैं और उनमें परस्पर भेद के साथ ही सजातीयता भी है। (न चापि घटादि स्वलक्षणो विशिष्ट एव सन्निवेशः प्रमाणेन सिद्धः—इति स एवान्यत्र धर्मिणि अदृष्टकर्तृके दृष्टसजातीयकमेव कर्तारं साधयति न तु सन्निवेशनाममात्रं तस्य सामान्यरूपस्य कार्यत्वासिद्धेरितिवाच्यम्, यतः स्वलक्षणमेव)।

उदाहरणार्थ एक बार अग्नि के कार्य के रूप में सिद्ध हुआ धूम अन्य धूमों को भी अग्नि का कार्य सिद्ध करता है (यथा सकृदप्येको धूमोऽग्नि-कार्यतया सिद्धो धूमान्तराण्यपि अग्निकार्यत्वे सिद्धान्येव करोति)।

२. यद्यपि कार्य के अस्तित्व का बोध स्वलक्षण से होता है तथापि वह स्वलक्षण कार्य के स्वरूप के अनुसार ही होता है। अतः वास्तव में स्वलक्षण वस्तु पर निर्भर है न कि वस्तु स्वलक्षण पर। यह स्वलक्षण ही अपने

सजातीय अन्य स्वलक्षणों को अन्य कार्यों के सजातीय स्वलक्षणों से भिन्न करता है (यद्यपि स्वलक्षणापेक्षया दर्शनादर्शनाभ्यां कार्य प्रतीयते तथापि तनथा स्वलक्षणं कार्यत्वेन तथा सिद्धं···)।

३. कार्यकारणभाव में सहकारी कारणों की भूमिका विचित्र है। वस्तु (कार्य) स्वलक्षण अनेक सहकारी कारणों से उत्पन्न होने के कारण अनेक प्रकार के अन्य स्वलक्षणों का भी सजातीय है। जैसे घट स्वलक्षण मृत्तिकामय होने से वल्मीक आदि से, सन्निवेश होने से पट आदि से तथा इसी तरह अन्य से भी सजातीयता रखता है। इस प्रकार एक-एक (जाति वाले) स्वलक्षण एक-एक कारण के कार्य सिद्ध होते हैं अर्थात् एक कार्य स्वलक्षण में अनेक कारणरूप स्वलक्षण विद्यमान हैं। स्वयं बौद्ध भी सजातीय कार्य के लिये सजातीय उपादान कारण का ग्रहण मानते हुए कहता है कि घट न तो मात्र मृत्तिका का संस्थान है, न कुलालरूप निमित्त-कारण मात्र से घट बना है और न ही घट केवल मिट्टीरूप है (तच्च कार्य-स्वलक्षणमनेकसहकारिजन्यतयानेकविधस्वलक्षणान्तरैः सजातीयम् । तथा च घटस्वलक्षणं मृण्मयत्वेन वल्मीकादिभिः सन्निवेशेन पटादिभिः···इत्येव-मादिता क्रमेण एकैकजातियुक्तानि स्वलक्षणानि एकैककारणकार्याणि व्यवस्था-प्यन्ते । तज्जातीयार्थितायास्तज्जातीयकारणोपादानाय सौगतैरपीयं व्यवस्था कृता, न मृदः संस्थानं न कुलालान्मृद्रूपता इत्येवं वदद्भिः)।

४. बौद्ध की मान्यता है कि कार्य के कर्ताओं में भेद स्वाभाविक है। जो एक बुद्धिमान् पुरुष संस्थानविशेष वाले घट का निर्माता है वही पट का निर्माता नहीं होता। घट, पट की भिन्न-भिन्न प्रतीतियाँ यही बताती हैं कि इनके बुद्धिमान् कर्ता भिन्न-भिन्न हैं। अतः सभी कार्यजगत् का कर्ता एक ईश्वर है—यह प्रत्यक्ष-प्रमाण व लोकानुभव के विरुद्ध है। (न हि यथा घटः संस्थानवान् बुद्धिमता पुरुषेण नियतेन तथा पटोऽपि । तथैव च प्रतीति-रुभयत्रापि प्राज्ञकृतत्वप्रतीतेरुपयोगाय च प्रवृत्तिरित्येवंव्यवसायैव)।

इस युक्ति का खंडन करते हुए उत्पल कहते हैं कि लोकव्यवहार में प्रत्येक कार्य के भिन्न-भिन्न कर्ताओं को देखकर भी समस्त जगत् का एक परम कर्ता ईश्वर का अनुमान करना असंभव नहीं, स्वाभाविक है। क्योंकि स्वयं बौद्ध एक जाति को माने बिना ही एक प्रत्ययकारी स्वलक्षणनिष्ठ सजातीयता को स्वीकार करता है। (केवलं तेषां परेषां सौगतानां यथा

सजातीयत्वं जात्या विनैव अवश्याभ्युपगन्तव्यम् एकप्रत्ययकारित्वं स्वलक्षण-निष्ठमेव तथैव एतदपीति)।

५. धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रथम परिच्छेद में नैयायिकों के ईश्वर सम्बन्धी मत का खण्डन करते हुए युक्ति दी है कि जिस सन्निवेश का जो अधिष्ठाता है उसका उस कार्य से सम्बन्ध है और उस कार्य को देखकर उसके अधिष्ठाता का अनुमान करें यह उचित मान भी लिया जाए तब भी सब कार्यों का एक अधिष्ठाता मानना तो तर्कसंगत नहीं है। अर्थात् जैसे घटादि कार्य का उपादान कारण मृत्तिका है और निमित्तकारण कुम्भकार। किन्तु इससे यह अनुमान तो नहीं किया जा सकता कि मृत्तिका-उपादान कारण वाले वल्मीक आदि सभी का एक कर्ता है।

यदि प्रत्येक कार्य का भिन्न-भिन्न अधिष्ठाता नहीं मानेंगे तो कार्यों में विचित्रता की सिद्धि नहीं होगी। अतः संक्षेप में वस्तुस्थिति यह है कि घटादि का कर्ता कुम्भकार सिद्ध होने पर भी नाना कार्यों के नाना कर्ता ही सिद्ध होते हैं: एक कर्ता ईश्वर नहीं। धर्मकीर्ति की यह युक्ति समस्त जगत् के निमित्तकारण एक ईश्वर को मानने के विरोध में प्रस्तुत की गई है— 'सिद्धं यादृगधिष्ठातृ···' इत्यादि। इसका संक्षिप्त उत्तर देते हुए उत्पला-चार्य कहते हैं कि बौद्धों की यह युक्ति सिद्धान्तहीन है क्योंकि इसमें ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जिससे (पूर्वोक्त) कारणों के भेद का अनुसंधान किया जा सके। अर्थात् नाना कार्यों के अनेक निमित्तकारण मानने से यह भेद नहीं हो पायेगा कि किसी कार्यविशेष का उपादानकारण कोई विशेष ही क्यों है। शैव मतानुसार ईश्वर के रूप में एक निमित्तकारण मानकर तथा स्वातंत्र्य को उसका स्वभाव मानकर ही कार्यों की विचित्रता व विवि-धता सिद्ध की जा सकती है। कार्यों में विविधता का कारण प्रत्येक कार्य के भिन्न-भिन्न कर्ता न होकर प्रत्येक कार्य का पूर्ण स्वतंत्र एक कर्ता ईश्वर है।

जिस प्रकार बौद्ध सामान्य, गुण, क्रिया इत्यादि अन्य विभिन्न धर्मों का भेदक अथवा इनके नानात्व को सिद्ध करने वाला एक मात्र मानदण्ड अर्थ-क्रियाकारी स्वलक्षण को मानता है उसी प्रकार शरीर आदि समस्त विविध कार्यों का कारण एक ईश्वर है—ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है क्योंकि एक ईश्वर कहने पर भी उसके स्वातंत्र्य के कारण कार्य-वैचित्र्य की युक्ति-युक्त व्याख्या संभव है (तेषां पूर्वोक्त हेतुविभागकारिस्ववचनानुसंधानशून्य-

अभिधानम् । सामान्यानां गुणानां क्रियाणामन्येषामपि वा धर्माणामर्थक्रियाकारिस्वलक्षणनिष्ठत्वेन पृथक्कारणोपयोगस्य सिद्धेरनवद्यत्वादित्यव्यभिचार्येव सन्निवेश'''तन्वादेरीश्वरकर्तृतासाधन इति) ।



सम्बन्धसिद्धिः

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति (सातवीं शती) ने प्रमाणवार्तिक (३.२३२-४०) और सम्बन्धपरीक्षा (२२ कारिकाओं) में सम्बन्धविषयक न्यायमत की असंगतियों का उद्घाटन करते हुए सम्बन्ध की सत्यता व नित्यता को तर्कविरुद्ध सिद्ध करने का प्रयास किया था । धर्मकीर्ति के लगभग तीन सौ वर्ष बाद प्रादुर्भूत हुए उत्पलाचार्य ने इस सिद्धि में धर्मकीर्ति का आदरपूर्वक स्पष्ट उल्लेख करते हुए न्याय व बौद्धों की युक्तियों का तटस्थ विवेचन किया तथा साथ ही स्वमत का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया है । सम्बन्धसिद्धि की २३ कारिकाओं और उन पर लिखी गई वृत्ति के प्रतिपाद्य को साररूप में अधोलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है—

१. न्यायादि मत एवं धर्मकीर्ति द्वारा उनका खण्डन
२. धर्मकीर्ति की सम्बन्धविषयक अवधारणा
३. उत्पल-मतानुसार सम्बन्ध
४. आक्षेप एवं उत्तर

न्यायादि मत एवं धर्मकीति द्वारा उसका खंडन—सम्बन्धसिद्धि के प्रारम्भ में न्याय आदि दर्शनों के सम्बन्ध-विषयक मतों का उल्लेख करके धर्मकीर्ति-पक्ष से उनका खंडन दिखाया गया है । इनमें मुख्यरूप से नैरन्तर्य, द्विष्ठता, अपेक्षा व पारतंत्र्य को सम्बन्ध कहा गया है ।

(अ) **नैरन्तर्य सम्बन्ध नहीं**—दो सम्बन्धियों अथवा भाव पदार्थों में निरन्तरता, अन्तराल का अभाव अथवा निकटता मात्र को सम्बन्ध नहीं माना जा सकता । सम्बन्ध का यह स्वरूप मानने पर प्रश्न उठेगा कि सान्तरता क्यों सम्बन्ध नहीं है । सम्बन्ध को स्वीकार करने वाले मत सान्तर वस्तुओं में भी सम्बन्ध मानते हैं । अन्तराल का अभाव मात्र यदि सम्बन्ध है तो यह परिभाषा अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषों से युक्त है । पास-पास रखी दो लोह शलाकाओं में सम्बन्ध न होते हुए भी इस परिभाषा के अनुसार सम्बन्ध

घटित हो जाएगा। इसी प्रकार नित्य सर्वव्यापी होने के कारण दो विभु द्रव्य परस्पर निकट रहते हैं इसलिये उनमें भी सम्बन्ध घटित हो जाएगा। जबकि दूसरी ओर जिन पिता-पुत्र में सम्बन्ध है वहाँ यह घटित नहीं होगा क्योंकि वे सदा निकट नहीं रहते हैं।

(ब) द्विष्ठता सम्बन्ध नहीं—नैयायिक मानते हैं कि सम्बन्ध द्विष्ठ होता है अर्थात् जो दो भाव पदार्थों में रहते हुए भी अपने स्वरूप में रहता है तथा एक व नित्य होता है।

आपत्ति (१) दो मे रहना मात्र यदि सम्बन्ध है तो यह द्वित्व और द्विपृथक्त्व में भी घटित होगा जबकि इन्हें सम्बन्ध नहीं माना गया है। (२) द्विष्ठता का अर्थ दो में रहना मात्र नहीं है अपितु दो का स्वयं में रहते हुए अन्य तीसरे में रहना है। जैसे तैल व पायिका (पीनेवाली) शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं किंतु दोनों के एक भाव से सम्बन्ध के बाद पिपीलिका, आदि तीसरे ही अर्थ का संकेत मिलता है। (३) वस्तु अपने स्वरूप में स्थिर व पूर्ण होती है। दो सम्बन्धियों का अपना-अपना स्वरूप छोड़कर (अथवा बिना छोड़े) अन्य तीसरे (सम्बन्ध) में रहना संभव नहीं है, तर्कसंगत नहीं है।

अपेक्षा व पारतंत्र्य सम्बन्ध नहीं—एक वस्तु अपने अस्तित्व अथवा अपूर्णता की पूर्ति के लिये दूसरी वस्तु की अपेक्षा करती है। जैसे अंकुर बीज में रहता है, बीज के अधीन रहता है तथा आत्मस्वरूप को तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक अंकुर ऐसा न चाहे। अतः अंकुर को बीज की अपेक्षा है, वह उसके अधीन है। यही सम्बन्ध है जिसे कार्यकारणभाव भी कहा जाता है।

आपत्ति—दो स्वरूपनिष्ठ वस्तुओं में जैसे द्विष्ठता संभव नहीं है वैसे ही अपेक्षा, पारतंत्र्य भी संभव नहीं है। अपेक्षा का अर्थ है उस स्वरूप की प्राप्ति जो स्वरूप अप्राप्त है। किंतु अचेतन वस्तु में ऐसी अपेक्षा, इच्छा, प्रार्थना, संकल्प आदि वास्तव में संभव नहीं हैं। लोक-व्यवहार में इन्हें यदि ऐसा कहा भी जाता है तो वह केवल उपचार मात्र की दृष्टि से ही समझना चाहिये। (२) बीज व अंकुर कारण व कार्य माने जाते हैं। ये दोनों जब एक साथ कभी नहीं दिखाई देते तब इन दोनों का अपने में रहते हुए साथ ही तीसरे में रहना तो और भी असंभव है। दूसरे शब्दों में, कार्य और कारण का सहभाव नहीं हो सकता इसलिये उनमें सम्बन्ध मानना अथवा

सम्बन्ध को कार्यकारणभावरूप मानना अनुचित है। यदि कार्यकारणता में सम्बन्ध के सत्य होने से वास्तव में एकता हो जाती है ऐसा मानें तब भी सम्बन्ध पर द्विष्ठता का लक्षण घटित नहीं होगा। इसी प्रकार भावपदार्थों को परस्पर भिन्न या अभिन्न मानें तब भी उनमें कार्यकारणभाव घटित नहीं होगा।

धर्मकीर्ति की सम्बन्धविषयक अवधारणा—उपर्युक्त आलोचनाओं की पृष्ठभूमि में धर्मकीर्ति, सम्बन्धविषयक अपनी अवधारणा को जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं उसके प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं—

सम्बन्ध सत्य नहीं, कल्पना अथवा भ्रान्ति है क्योंकि—

(अ) सम्बन्धियों से भिन्न रूप में सम्बन्ध का अनुभव नहीं होता।

(ब) वस्तु का स्वभाव परस्पर अमिश्रण का है जबकि सम्बन्ध में परतंत्रता और अपेक्षा आवश्यक बताई जाती है।

सम्बन्ध नित्य नहीं है क्योंकि—

(अ) जिन सम्बन्धियों पर सम्बन्ध आधारित है वे सम्बन्धी अनित्य हैं।

(ब) नित्य पदार्थ में उपकार्य-उपकारकभाव संभव नहीं है जबकि सम्बन्ध में यह आवश्यक है।

(स) नित्य वस्तु में भेदाभेद का स्वभाव संभव नहीं है जबकि सम्बन्ध में यह आवश्यक है।

(द) वस्तु-भेद से वस्तुज्ञान में भेद होता है। दो सम्बन्धी व सम्बन्ध में एक ज्ञान की मान्यता तर्क-विरुद्ध है।

अतः सम्बन्ध न सर्वथा सत्य है और न असत्य। उसे न नित्य कहा जा सकता है, न अनित्य। वह सामान्य, अवयवी आदि की तरह कल्पना अथवा भ्रान्ति है। इस भ्रान्त धारणा से ही लोकव्यवहार चलता है।

उत्पल-मतानुसार सम्बन्ध

प्रकार—ईश्वर अपनी स्वातंत्र्य शक्ति के द्वारा अपनी ही इच्छा से अपने में ही प्रमेयरूप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है तथा अपनी ही माया शक्ति से संकुचित होकर पशुप्रमाता के रूप में इन प्रमेयों का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के इस आभासवाद के अनुसार यह जगत् तथा इसके समस्त भाव पदार्थ सत्य शिव का आभास होने के कारण सत्य हैं।

इसी प्रकार सम्बन्ध भी सत्य है, भ्रान्ति नहीं। लोकव्यवहार में सम्बन्ध के अनेक प्रकारों की प्रतीति होती है जैसे—

१. पितृपुत्रभाव—पितुः पुत्रः (पिता का पुत्र)
२. स्वस्वामिभाव—राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष)
३. अवयवावयविभाव—वृक्षस्य शाखा (वृक्ष की शाखा)
४. इतरेतरयोग—धवश्च खदिरश्च (धव और खदिर)
५. विशेषणविशेष्यभाव—नीलमुत्पलम् (नील कमल)
६. क्रियाकारकभाव—देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति (देवदत्त लकड़ियों की सहायता से स्थाली में ओदन पकाता है)।
७. अभाव सम्बन्ध—घटस्याभावः (घट का अभाव)
८. भेदरूपसम्बन्ध—अस्मादिदमन्यत् (यह इससे भिन्न है)

यही नहीं, पुत्र का पिता, पुरुष का राजा आदि विपरीत भाव से भी लोकव्यवहार में इसका अनुभव किया जाता है। सम्पर्क, संसर्ग, संश्लेष, रूपश्लेष इत्यादि इसी भाव को व्यक्त करते हैं, अतः ये शब्द सम्बन्ध के पर्याय हैं। सम्बन्ध के अनेकानेक प्रकारों का विवेचन करने पर जो स्वरूप सर्वसामान्य है वही सम्बन्ध का वास्तविक स्वरूप समझा जाना चाहिये।

सम्बन्ध का स्वरूप-अनेकता में एकता—सम्बन्ध जिनमें होता है उन्हें सम्बन्धी कहा जाता है और यह सम्बन्धी शब्द ही सूचित करता है कि सम्बन्ध में दो स्वतंत्र भाव पदार्थों का साथ-साथ रहने व एक में रहने का भाव निहित है। यह सहवृत्तित्व और समानवृत्तित्व तभी संभव है जब वे सम्बन्धी अपने-अपने पूर्व स्थान को छोड़कर अन्य समान स्थान में रहें—

"संशब्देन सहार्थवृत्तिना समानार्थवृत्तिना वा बन्धिना च देशान्तरपरिहारपूर्वकैकदेशावस्थानार्थेन··· ।"

इस प्रकार सम्बन्ध शब्द के अवयवों से ही सम्बन्ध शब्द का अर्थ दो की एकात्मता निश्चित होता है। दो की एकात्मता ही अनेकता में एकता अथवा भेदाभेद कही जाती है। इसमें न केवल एकता है न केवल अनेकता अपितु दोनों ही अवस्थाओं की इसमें अपेक्षा होती है। यदि केवल एकता ही सम्बन्ध होता तो वह अनेक भाव पदार्थों में तब भी घटित हो जाता जब उनमें एकता नहीं है और तब भी घटित हो जाता जब एकता है, इस प्रकार कोई नियम नहीं रहता। इसी तरह यदि एकता मात्र सम्बन्ध होता तो वह

एक पदार्थ में भी संभव हो जाता जबकि यह सम्बन्ध की साधारण अवधारणा के भी विपरीत है। इसलिये जब अनेकता व एकता दोनों की अपेक्षा करने वाला सम्बन्ध माना गया तो यह सिद्धान्त सुसंगत होगया कि एक से अधिक की अपेक्षा के कारण एकमात्रता सम्बन्ध नहीं है तथा अनेक में एकता की अपेक्षा के कारण. दूर-दूर उपस्थित अनेक का होना मात्र सम्बन्ध नहीं है—

"न त्वनेकतैव नापि एकतैव अपितु उभयावस्थापेक्षोऽयमर्थः सम्बन्धः।"

सम्बन्ध सदैव दो में ही—दो में एकात्मता को सम्बन्ध कहा गया—द्वयोरेकात्मनेति सम्बन्धशब्दार्थो''' । इसका तात्पर्य यही है कि सम्बन्ध दो सम्बन्धियों से भिन्न घटादि की तरह कोई तीसरी वस्तु नहीं है जैसा कि नैयायिक मानते हैं। नैयायिक सम्बन्धियों से भिन्न सम्बन्ध की बाह्य (स्वतंत्र) सत्ता मानते हुए उसे एक मानते हैं जबकि उत्पल दो सम्बन्धियों में एकात्मता को सम्बन्ध मानते हुए उसे आन्तरिक व एक मानते हैं। यही नैयायिकों से उत्पल का मतभेद है—

"सम्बन्धः पुनः द्वयोर्विशेष्यैकता न त्वेवं वस्त्वन्तरं प्रकाशते—इत्ययं विशेषः।"

उत्पल सम्बन्ध को तीसरी स्वतंत्र इकाई इसलिये नहीं मानते कि तब सम्बन्धी दो नहीं तीन हो जाते हैं और उनमें परस्पर सम्बन्ध के विचार से अनवस्था दोष आता है तथा साथ ही दो में एकात्मता का सिद्धान्त भंग होता है। तीन में एकरूप सम्बन्ध को मानने में उत्पल को वही कठिनाई है जो धर्मकीर्ति अनुभव कर चुके हैं अर्थात् तीन पदार्थों से अपने-अपने भिन्न-भिन्न दो समूहों में स्थित होकर तीसरे (सम्बन्ध) में स्थित होने की अपेक्षा की जाती है किंतु यह संभव नहीं है क्योंकि एक की दूसरे के साथ जो एकता है वह तीसरे के साथ नहीं हो सकती क्योंकि उस दूसरे व तीसरे में स्वरूपगत भेद है—

"न चापि त्र्यादीनामेकः सम्बन्धः, त्रयाणां हि भिन्नभेदावधिकृतद्वैराश्याश्रयात्परस्परं भेदात्, तेषां च सम्बन्धस्वरूपस्थितावपेक्षणात्। एकस्य द्वितीयेन सह यैकता न सा तृतीयेन सह तयोर्द्वितीयतृतीययोर्भेदादपेक्षणाच्च।"

अतः शैव मतानुसार जब दो से अधिक में सम्बन्ध का प्रसंग उपस्थित होगा तब उन्हें दो वर्गों में विभाजित करते हुए ही दो में एकात्मतारूप सम्बन्ध माना जाएगा—

"ततो बहूनां शतादिसंख्यानामपि प्रतियुगलमेवैकः सम्बन्ध उद्घोष्यते···" तथा द्रष्टव्य–कारिका १५।

दो में एकात्मतारूप सम्बन्ध मानने पर जिज्ञासा होती है कि अनेक भाव पदार्थों के प्रसंग में एक-एक भाव पदार्थ का अन्य सभी के साथ एक ही साथ सम्बन्ध होगा अथवा अनेक में से प्रत्येक के साथ प्रत्येक का सम्बन्ध होगा। यदि एक-एक का अनेक संख्या वालों के साथ सम्बन्ध होता है तो उन अनेक के एक ज्ञान का विषय बनने के कारण क्या सम्बन्ध एक कहा जाता है? अथवा वे अनेक अलग-अलग ज्ञान के विषय हैं जैसे 'राज्ञः पुरुषः हस्त्यश्वरथपदातय' में राजा का पुरुष एक परामर्श-विषय है, राजा का हस्ति दूसरा, राजा का अश्व तीसरा तथा इसी प्रकार राजा का रथ, राजा का पदाति आदि अन्य परामर्शविषय हैं। जहाँ तक द्वन्द्व समास का प्रश्न है हस्ति आदि अनेक प्रमेयों के होने पर भी इनका ज्ञान एकरूप ही होता है इसलिये द्वन्द्व समास शब्दरूप माना जाता है तथा हस्ति आदि सभी पद उस शब्द के वर्ण समान माने जाते हैं। एक ज्ञान में स्थित अथवा एक ज्ञान का विषय बनने वाला शब्द एक ही माना जाता है भले ही बाह्यरूप से वहाँ अनेक शब्द दिखाई दें। इसी के साथ जब ज्ञान की एकरूपता के कारण अनेक शब्दों को भी एक शब्द मान लिया जाता है तब यह कहने में व मानने में क्या अनुचित है कि वहाँ ज्ञान का विषय भी एक है क्योंकि शब्द एक है। इस प्रकार ज्ञान का विषय, शब्द तथा ज्ञान एक ही सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि 'एतावस्तुशब्दबुद्धयः' के द्वन्द्व में वस्तु आदि तीनों के लिए एकात्मभाव का सूचक एता शब्द का एक वचन में प्रयोग हुआ। 'बुद्धय' में बहुवचन का प्रयोग तो अवयवों की अनेकता के कारण उसी प्रकार हुआ है जैसे दारा में होता है। अतः यहाँ दो का सम्बन्ध मानना ही उचित है।

४. ज्ञान-व्यापार की एकात्मता—दो में एकात्मता की प्रतीति सम्बन्ध है। पदार्थों का प्रकाशन-व्यापार तब तक होता रहता है जब तक एकात्मता का यह लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता। यही एकात्मता लोकव्यवहार का आधार है, अतः अत्यन्त उपयोगी है। इस एकात्मता के बिना पदार्थों का प्रकाशन-व्यापार परस्पर असम्बद्धरूप में होगा जिससे प्रकाशन या उनके ज्ञान का वास्तविक प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हो सकेगा—

"···एकात्मतापत्तिपर्यन्तोऽवभासनव्यापारोऽर्थेषु ज्ञानानां, न तु परस्पराऽसंलग्नतया प्रकाशमात्रात् परिसमाप्यते।"

यह एकात्मता ऐसी है जिसमें विशेषण का परामर्श अपने स्वरूप को विशेष्य परामर्श में समर्पित कर देता है तथा साथ ही स्वतंत्र भी बना रहता है। जैसे राजपुरुष में गौण होने के कारण राजा विशेषण है तथा प्रधान होने के कारण पुरुष विशेष्य। इस उदाहरण में 'राजा का' यह ज्ञान तथा 'पुरुष' यह ज्ञान दो रहते हुए भी एक ज्ञान बनकर एकात्मरूप से प्रकाशित होता है। इसी प्रकार नीलमुत्पलम् में नीलत्वविशेषणरूप परामर्श उत्पलविशेष्यरूप परामर्श में, 'काष्ठैः...' में स्थाली आदि विशेषण (कर्ता पर आश्रित) क्रिया में, 'घटस्याभाव' में अभाव विकल्पात्मक ज्ञान में प्रविष्ट होते हुए भी अपनी स्वतंत्रता बनाए रखते हैं। दो ज्ञानों की यही एकात्मतारूप अनुभूति सम्बन्ध है।

पदार्थ-प्रकाशन की यह एकात्मता परिमित प्रमाता में ही समाप्त नहीं होती अपितु अनन्त चिन्मयशिवतारूप महाप्रकाश में प्रतिक्षण विश्रान्त है—

"न केवलं च सम्बन्धमयैकतास्पर्शिपरिमितमायाप्रमातृपर्यवसायी वस्तुप्रकाशनव्यापारो, यावदनन्तचिन्मयशिवतावभासविश्रान्तैव प्रतिक्षणं वस्तुसंवित्क्रिया—"

धर्मकीर्ति पक्ष से आक्षेप एवं उत्पल के उत्तर—उत्पलाचार्य ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में धर्मकीर्ति से अपने मतभेद का उल्लेख किया है तथा साथ ही जहाँ उनसे सहमति संभव थी वहाँ उसको भी स्पष्टतया स्वीकार किया है। उत्पलाचार्य की सम्बन्धविषयक अवधारणा पर धर्मकीर्ति पक्ष से मुख्यरूप से दो आपत्तियों का उल्लेख इस सिद्धि में दिखाई देता है—

(१) एकता व अनेकता परस्पर विरुद्ध हैं। ये एक साथ एक वस्तु अथवा ज्ञान में नहीं रह सकतीं। ये दोनों उसी प्रकार एक दूसरे के विपरीत हैं जैसे भाव और अभाव। इन दोनों के साथ-साथ रहने में कोई प्रमाण नहीं है—

"न च अनेकस्यानेकतासहभाविनी एकता युज्यते भावाभावरूपत्वेन विरुद्धत्वात्...या पुनरेकता अनेकता च समानाश्रया सा प्रमाणबाधिता भावस्य वाभावता... ।"

(२) सम्बन्ध कल्पना या भ्रान्ति है, सत्य नहीं क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' में नीलगुण व नील द्रव्य दो पदार्थ माने गये हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण से इनका

भेद सिद्ध है। किंतु फिर भी इनमें जो एकात्मता प्रतीत होती है वह शब्द-मयी कल्पना मात्र है—

"…रूपमेकमनेकञ्च तेषु बुद्धेरुपप्लवः।"

वस्तु के क्षणिकरूप से विपरीत होने के कारण यह प्रतीति भ्रान्ति का विषय ही है। इस भ्रान्ति को भी संवृति सत्य अथवा व्यावहारिक सत्य इसलिये कहा जाता है कि इसका निवारण अवयवी के भ्रम की तरह सरलता से तथा शीघ्र नहीं होता है—

"वस्तुस्वरूपविपरीतत्वेन च प्रतीतिस्तद्वदेव भ्रान्तिविषयैव…भ्रान्तेर-प्यस्याः संवृतिसंज्ञया व्यपदेश इति।"

धर्मकीर्ति ने यद्यपि ये आक्षेप न्यायसम्मत सम्बन्ध पर क्षणभंगवाद के दृष्टिकोण से किये थे किंतु उत्पल ने उनमें अपने मत से समानता-असमानता का विवेचन करते हुए, स्वमतानुसार जो टिप्पणियाँ हो सकती हैं उन्हें प्रस्तुत करने का प्रयास किया है—

(१) अनेकता में एकतारूप प्रतीति को कल्पना के रूप में (…तान्यो-जयति कल्पना) तो धर्मकीर्ति ने स्वयं स्वीकार किया है। धर्मकीर्ति का कल्पना का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उनके अनुसार घटादि भी कल्पना ही है। तब सम्बन्ध का भी कल्पनारूप होना कोई दोष नहीं है—

"कल्पनारूपत्वं नास्या दोषः।"

(२) सम्बन्ध को सत्य कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह घटादि की तरह कोई बाह्य वस्तु है अथवा दो सम्बन्धियों से भिन्न कोई तीसरा बाह्य सत्य है—

सम्बन्धः पुनर्द्वयोर्विशेष्यैक्यता न त्वेवं वस्त्वन्तरं प्रकाशते।

सम्बन्ध की सत्यता से यहाँ तात्पर्य है कि वह अनुभविता की अनुभूति में सत्य है। घटादि भ्रान्त हो सकते हैं किंतु उनकी प्रतीति को भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार घटादि का प्रत्यक्षावभास बाधक ज्ञान से भी सरलता से दूर नहीं होता है उसी प्रकार उत्पल का मत है कि सम्बन्ध का प्रत्यक्षावभास भी सरलता से दूर नहीं होता है।

धर्मकीर्ति सविकल्प ज्ञान को भ्रान्ति, कल्पना या संवृति सत्य कहते हैं जबकि उत्पल का मत है कि अर्थप्रतिभास से जुड़ा होने के कारण सविकल्प ज्ञान भी सत्य है, सत्य का ही एक रूप है। इस आन्तरिक सत्य प्रतीति की तुलना द्विचन्द्र या स्वप्न की प्रतीति से नहीं की जा सकती—

"भ्रान्तात्वपि चास्यां पुनः स्वप्नद्विचन्द्रादिवद् भ्रान्तता नास्ति संवादादिति।"



अथ

अजडप्रमातृसिद्धिः

महामाहेश्वराचार्योत्पलदेवविरचिता सवृत्तिः



यथा सदसतां नैव विशेषोऽस्ति निजात्मनि ।
जडाजडानामप्येवं नास्त्यसाविति निश्चयः ॥ १ ॥

वृत्ति—विज्ञानसंतानवादिनां मते सर्वेषां भावानां क्षणिकत्वात् स्वलक्षणात्मके प्रातिस्विके स्वरूपे विशेषाभावः संतानिन एकस्यानुसंधातुरनभ्युपगतत्वात् । एवं चेतनाचेतनानामपि स्वात्मनि निर्विशेषत्वम् ॥ १ ॥

अनुवाद—जिस प्रकार सत् और असत् का अपने स्वरूप में कोई भेदक नहीं है उसी प्रकार चेतन और अचेतन (पदार्थों) में भी वह (भेद) नहीं होता है—यह निश्चित है ॥ १ ॥

विज्ञानसंतानवादियों के मत में सभी भाव पदार्थों के क्षणिक होने के कारण उनके स्वलक्षणरूप अपने स्वरूप में भेदक का अभाव है क्योंकि (इस मत में) सन्तानी रूप एक अनुसन्धाता को स्वीकार नहीं किया गया है । इसी प्रकार चेतन और अचेतन (पदार्थों) का भी अपने स्वरूप में कोई भेद नहीं है ॥ १ ॥

प्रख्योपाख्या च सत्ता यद्यदसत्ता विपर्ययः ।
नैतत्स्वरूपं स्पृशति वस्तुनो ज्ञातृगाम्यदः ॥ २ ॥

वृत्ति—प्रकाशविमर्शलक्षणाभ्यां प्रख्योपाख्याभ्यां तदभावेन च भावानां सदसत्तयोर्व्यवस्थापयितुमिष्टयोरपि वस्तुनः स्वरूपस्पर्शाभावः, यतस्तत्प्रख्यादि ज्ञातुर्धर्मस्ततस्तत्स्वरूपव्यवस्थानाभावः ॥ २ ॥

अनुवाद—प्रख्या (प्रकाश) और उपाख्या (विमर्श) से समन्वित (सभी प्रमातृ-प्रमेयादि) की सत्ता है और इस (प्रकाश-विमर्श) के जो विपरीत है उसकी सत्ता नहीं है। सिद्धान्ती का ऐसा मत ठीक नहीं है क्योंकि इन (प्रख्यादि) का स्वरूप प्रमाता का अनुसरण करनेवाला है ॥ २ ॥

प्रकाश और विमर्श लक्षणवाले प्रख्या और उपाख्या से तथा उन दोनों के अभाव से भाव पदार्थों की सत्ता और असत्ता का निश्चय सिद्धान्ती को अभीष्ट है किन्तु उनमें वस्तु के स्वरूप के स्पर्श का अभाव है क्योंकि वे प्रकाश और विमर्श ज्ञाता के धर्म हैं। इसलिये इन प्रख्यादि में उन (सत्-असत्) के स्वरूप को निश्चित करने (की क्षमता) का अभाव है ॥ २ ॥

प्रख्योपाख्याविषयताप्यर्थस्यात्मा न युज्यते ।
परापेक्षितया नैकरूपत्वे सत्त्वलङ्घनात् ॥ ३ ॥

वृत्ति—न च प्रख्यादिविषयत्वेऽपि पदार्थस्वरूपतोपपद्यते परप्रकाशाधीनत्वात्तस्य । किं चानेकाकारत्वेऽपि वस्तुसत्ताया अप्रतिष्ठानात् तस्मादन्योन्यं वस्तुतदभावयोर्निर्विशेषत्वम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—प्रकाश एवं विमर्श का विषय होने पर भी उसकी पदार्थस्वरूपता युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि वह (पदार्थ) दूसरे के अधीन, अनेक रूपवाला तथा चैतन्य (सत्त्व) से भिन्न है ॥ ३ ॥

प्रख्यादि को विषय में मान लेने पर भी वह पदार्थ का स्वरूप सिद्ध नहीं होता है क्योंकि वह (विषय) दूसरे के प्रकाश के अधीन होता है। इसके साथ ही (विषय) अनेक आकार वाला होता है इसलिये भी वस्तु की सत्ता की अप्रतिष्ठा (अनित्यता) है। इसलिये वस्तु और उसके अभाव में परस्पर वैशिष्ट्य नहीं है ॥ ३ ॥

मा भूद्विशेषः प्रख्यादिभावाभावौ ततः पुनः ।
सिद्ध्यत्यैव विशेषोऽत्र तावता च प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

वृत्ति—निर्विशेषत्वाभ्युपगमेऽपि सदसतोर्वस्तुनः प्रख्यादिभावाभावात्रविकलावेव तदवलम्ब्य पुनर्विशेषवत्त्वस्य सिद्धेः, ततः साकल्येन भावेष्वर्थक्रियापि सिद्ध्येदेव ।। ४ ।।

अनुवाद—(सत् एवं असत् में) भेद न हो तब भी प्रख्यादि के भाव और अभाव से उन में वैशिष्टच की सिद्धि हो ही जाती है और उस (प्रख्यादि की सिद्धि) से ही (वह) अर्थक्रिया भी सिद्ध हो जाती है (जिसे पूर्वपक्षी बौद्ध सिद्ध करना चाहता है ।। ४ ।।

सत् और असत् वस्तुओं में भेदक नहीं है ऐसा स्वीकार कर लेने पर भी सत्-असत् वस्तु के प्रख्यादि का भाव और अभाव सदा अखंडित बना रहता है। उन्हीं के आधार पर फिर उन (सत्-असत्) में भेद की सिद्धि हो जाती है। तब भाव पदार्थों में अर्थक्रिया की सिद्धि भी पूर्णतया हो जाएगी ।। ४ ।।

एवमप्यवभासानुषक्ता सत्तोचिता भवेत् ।
तदपेक्षां विना भावाभावयोरविशिष्टता ॥ ५ ॥

वृत्ति—इत्थं च वस्तुसत्तायाः प्रकाशलग्नाया एवौचित्यं प्रकाशमानतालक्षणं संभाव्यतेऽन्यथा संविदनुषङ्गं विना सदसतोरन्योन्यनिरपेक्षत्वात् स्वस्वरूपनिष्ठयोर्विशेषानुपपत्तेः ॥ ५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार अवभासन से संलग्न (वस्तु) की सत्ता मानना उचित ही है क्योंकि उस (अवभासन) के बिना भाव और अभाव में भेद नहीं हो सकता ।। ५ ।।

इस तरह प्रकाश से जुड़ी हुई वस्तु-सत्ता की ही प्रकाशमानता-रूप सार्थकता (औचित्य) है। यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो संवित् से गहन सम्बन्ध रखे बिना, सत्-असत् में भेद ही संभव नहीं होगा क्योंकि वे (सत्-असत्) एक दूसरे से निरपेक्ष होते हैं और अपने-अपने स्वरूप में ही स्थित रहते हैं ।। ५ ।।

कथं स्यादविशेषोऽत्र यावतार्थक्रियां हि सन् ।
कुर्यान्नान्यस्तथाप्यर्थो निर्विशेषो निजात्मनि ॥ ६ ॥

वृत्ति—यस्मात्सत एव वस्तुनोऽर्थक्रियाकारित्वमसतस्तदभाव इति कथमविशिष्टत्वमर्थक्रिययैव तद्भावोपपादनात्-इत्याक्षेपः। तत्राह तथाप्यर्थक्रियायास्तत्तत्प्रमात्रधीनतया नैसर्गिकत्वाभावाद्विना संविदाश्रयतामर्थस्य स्वात्मनि विशेषाधायकत्वासिद्धेः ॥ ६ ॥

अनुवाद—सत् ही अर्थक्रिया करेगा अन्य (असत्) नहीं। इसलिये यहाँ (सत्-असत् में) अवैशिष्ट्य कैसे होगा ? फिर भी (अर्थक्रिया से सत्-असत् का भेद मान लेने पर भी) पदार्थ अपने आप में निर्विशेष है (अर्थात् उसका अपना कोई भेदक नहीं है) ॥ ६ ॥

सत् वस्तु में ही अर्थकियाकारिता होती है उससे भिन्न (अर्थात् असत्) में नहीं होती इसलिये अर्थक्रिया से उस पदार्थ की भावात्मकता को सिद्ध किया जाता है तो उन सत्-असत् में अभेद कैसे होगा—यह (पूर्वपक्ष का) आक्षेप है। यहाँ यह कहा जाता है कि उक्त स्थिति में भी पदार्थ अपने आप में भेद से सर्वथा अछूता ही रहेगा क्योंकि (पदार्थ में दिखाई देने वाली) अर्थक्रिया उस-उस पदार्थ के प्रमाता के अधीन होनी है और संवित् के आश्रय के बिना, पदार्थ में अर्थक्रिया स्वभाव से नहीं रहती ॥ ६ ॥

एवमर्थक्रियाभासोपाधिसंभेदमागतः ।
सन्नर्थः स्यात्स्वरूपेण नासतस्तु विशिष्यते ॥ ७ ॥

वृत्ति—उक्तप्रकारेण संविद्यप्रतिष्ठानादर्थक्रियाकारिभिस्तत्तदाभासोपाधिभिः संभिन्नस्यार्थस्वरूपेण सत्तासंपत्तावपि पुनरसतोऽर्थाद्विशेषो न सिद्ध्येत् ॥ ७ ॥

अनुवाद—इस प्रकार अर्थक्रियाभास की उपाधि के कारण (असत् से) विभिन्न किया हुआ (भिन्न रूप में सिद्ध) पदार्थ भी अपने स्वरूप से ही सत् होगा। वह असत् से विभिन्न नहीं होगा ॥ ७ ॥

ऊपर कहे अनुसार संवित् में अप्रतिष्ठित होने से अर्थक्रियाकारी उन-उन आभासों की उपाधियों के द्वारा विभिन्न किये गये पदार्थ के, पदार्थरूप से सत्तावान् होते हुए भी फिर असत् पदार्थ से (सत् का) वैशिष्ट्य सिद्ध नहीं होगा ॥ ७ ॥

* अर्थक्रियायाः अव्यवस्थितत्वात्, अथ च पूर्वसिद्धेऽर्थे

तत्राप्यर्थक्रिया सिद्धसत्ता-कार्थे न वर्णिता।
सममेवानयोस्तेन प्रतिष्ठा संविदाश्रया ॥ ८ ॥

वृत्ति—तयोरुभयोः सदसतोर्मध्येऽपि प्रागसिद्धेऽर्थे तत्सिद्धेर्नार्थ-क्रियैव वस्त्वात्मा, तस्माद्भावाभावयोरक्रममेव संविदधीनैव सिद्धिः तन्निष्ठत्वादेव भावव्यवस्थितीनाम् ॥ ८ ॥

अनुवाद—वहाँ (पूर्वपक्ष में) भी सिद्ध सत्ता वाले पदार्थों में अर्थ-क्रिया वर्णित नहीं है। इसके फलस्वरूप इन सत्-असत् पदार्थों की संवित् में ही एक साथ अवस्थिति (सिद्ध) होती है ॥ ८ ॥

उन सत्-असत् दोनों में यदि पूर्वतः पदार्थ को असिद्ध मानेंगे तो अर्थ-क्रिया (ही) अव्यवस्थित (अनिश्चित) हो जाएगी। (दूसरी ओर यदि उनमें पदार्थ को पूर्वतः सिद्ध माना जाता है तो उस (अर्थक्रिया) को (भी) सिद्ध मानते हुए 'अर्थक्रिया ही वस्तुस्वरूप है' यह स्थिति उपस्थित होगी। अतः (यही मानना उचित है कि) भावात्मक और अभावात्मक पदार्थों का, बिना क्रम के (एक साथ ही) संवित् में रहना सिद्ध होता है। उस (संवित्) में रहने से ही भावपदार्थों की व्यवस्था बनती है ॥ ८ ॥

संविदप्यपरामर्शरूपा चेत्तदसावपि।
अभावेन जडेनाथ तुल्यैव प्राग्वदात्मनि ॥ ९ ॥

वृत्ति—निर्विमर्शस्य प्रकाशस्यापि स्फटिकादिवद्विश्वावभासनेऽपि अस्वतन्त्रत्वात् स्वात्मन्यसता जडेन च भावेन सादृश्यमेव स्यात् परस्परवृत्तपरिज्ञाने मूकप्रायत्वात्। एतेन शान्तब्रह्मवादनिरासः कटाक्षितः ॥ ९ ॥

अनुवाद—संवित् भी यदि परामर्श रहित है तो वह भी पहले की तरह, अपने स्वरूप में असत् (अभाव स्वरूप) जड के समान ही होगी ॥ ९ ॥

विमर्श रहित प्रकाश स्फटिक आदि की तरह विश्व का अवभासन करने में समर्थ होते हुए भी (प्रकाशन में) परतंत्र होने के कारण अपने में असत् जड पदार्थ के समान ही होगा और इस प्रकार वे (विमर्शरहित संवित् और जड पदार्थ) एक दूसरे के व्यापार को जानने में प्रायः मूक ही रहेंगे। इस तर्क से शान्त ब्रह्मवाद की ओर कटाक्ष किया गया है ॥ ९ ॥

सैवं भूतात्मना स्वेनाप्यलब्धपरिनिष्ठितिः ।
कथमन्यस्य भावस्य प्रतिष्ठास्पदतामियात् ॥ १० ॥

वृत्ति—निर्विमर्शा संवित्स्वतोऽलब्धसत्ताका परं व्यवस्थापयितुं नालं गगनकुसुममिव सौरभादिजनने ॥ १० ॥

अनुवाद—इस प्रकार वह (विमर्श रहित) संवित् अपने स्वरूप को ही जब सिद्ध करने में समर्थ नहीं है तब वह अन्य भाव (पदार्थों) की प्रतिष्ठा का स्थान (अथवा आधार) कैसे हो सकती है ॥ १० ॥

विमर्श-रहित प्रकाश अपने आप में ही सत्ता को प्राप्त नहीं है तब (निश्चय ही) वह दूसरे (के अस्तित्व) की स्थापना में उसी प्रकार समर्थ नहीं है जैसे आकाशकुसुम सुगन्धि आदि की उत्पत्ति में (समर्थ नहीं है) ॥ १० ॥

इदमित्युचितः संवित्प्रकाशोऽन्यस्य वस्तुनः ।
प्रतिष्ठात्मकतां गच्छेदहमित्यात्मना पुनः ॥ ११ ॥

वृत्ति—भिन्नं वस्तु इदन्ताविमर्शेन प्रकाशनार्हं सत्पुनरहन्तात्मना व्यवस्थामियात् । संविदेव विश्वस्फुरत्तामयी स्वस्वातंत्र्यादेव विचित्रार्थात्मना विभिन्नप्रकाशमयेन प्रस्फुरन्ती विश्वजीवितं, तदहन्ताविश्रान्ति विना स्वतोऽसिद्धं कथं व्यवहार्यं स्यात् ॥ ११ ॥

अनुवाद—अन्य पदार्थ का संवित्-प्रकाश 'इदम्' के रूप में समझना चाहिये । (और) वही (प्रकाश अभेदात्मक) स्वरूप की दृष्टि से फिर 'अहम्' के रूप में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

(अहम् से) भिन्न (हुई) वस्तु इदन्ता विमर्श के रूप में प्रकाशन योग्य होकर पुनः अहन्ता के रूप में प्रतिष्ठित होती है । विश्व के विस्फुरणरूप वाली और अपने स्वातंत्र्य के कारण ही विभिन्न प्रकाशमय विचित्र पदार्थों के रूप में प्रस्फुरित होनेवाली संवित् विश्व का जीवन है । अपने आप में असिद्ध वह (जड पदार्थ) अहन्ता में विश्रान्ति के बिना (लोकव्यवहार में) कैसे उपयोगी होगा ? ॥ ११ ॥

व्यतिरेकेतराभ्यां हि निश्चयोऽन्यजडात्मनोः ।
व्यवस्थितिः प्रतिष्ठा च सिद्धिर्निर्वृत्तिरुच्यते ॥ १२ ॥

वृत्ति—ज्ञातरि व्यवस्थितत्वे सन् जडोऽन्यथासन्, स्वात्माख्यसंरम्भत्वे स्वप्रकाशत्वं तदभावे नास्तीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि स्वपरत्वनिश्चयः। स च व्यवस्थाप्रतिष्ठादिशब्दैरुच्यते ॥ १२ ॥

अनुवाद—अचेतन और चेतन का निश्चय अन्वय और व्यतिरेक से होता है। यह (निश्चय) व्यवस्था, प्रतिष्ठा, सिद्धि और निर्वृत्ति कहा जाता है ॥ १२ ॥

ज्ञाता में प्रतिष्ठित हो तो जड भी सत् है अन्यथा असत् है। आत्मा में (बाह्य प्रकाशनरूप) व्यापार के न होने पर (वह आत्मा प्रमातृरूप में) स्वप्रकाश और (बाह्यप्रकाशनरूप) व्यापार होने पर (वही आत्मा प्रमेय के रूप में) स्वयंप्रकाश नहीं अर्थात् परप्रकाश होता है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से ही (वस्तु के) स्व (प्रकाशत्व) और पर (प्रकाशत्व) का निश्चय होता है। (आत्मा की) प्रकाशनरूप यह क्रिया ही व्यवस्था, प्रतिष्ठा आदि शब्दों से कही जाती है ॥ १२ ॥

एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी।
जडाः प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः ॥ १३ ॥

वृत्ति—इत्थं जडभावानां संविद्विश्रान्तिं विनासत्कल्पत्वात् स्वात्मन्यसत्स्वभावानां ज्ञातुः प्रकाशस्वभावस्य संबन्धितयैव सत्त्वम्। तस्मात्संवित् प्रकाश एव स्वात्मोच्छलतया स्वमायाशक्त्युल्लासिते विश्ववैचित्र्ये जडाजडभावराशिद्वयेन वेद्यवेदकात्मकेन स्वरूपानतिरिक्तेनातिरिक्तेनेव प्रस्फुरेदिति स्वातन्त्र्यवादस्य प्रोन्मीलनं सूचितवानाचार्यः ॥ १३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार अपने आप में असत् की तरह प्रतीत होने वाले जड पदार्थ भी प्रकाश के (प्रकाशमान) ही हैं। स्व और पर के रूप में प्रकाशित होने वाला (जड पदार्थ समूह भी) स्वात्मा का प्रकाश ही है ॥ १३ ॥

इस तरह संवित् में विश्रान्त हुए बिना अचेतन पदार्थ असत् की भाँति हैं तथा इसके कारण अपने आप में असत् स्वभाव वाले उन पदार्थों की सत्ता, प्रकाश स्वभाव वाले ज्ञाता के सम्बन्ध के माध्यम से (ही सिद्ध होती) है। अतः संवित्प्रकाश ही स्वात्मा के उन्मेष से, निज मायाशक्ति के, द्वारा

उद्‌भासित विश्ववैचित्र्य में, स्वरूप से भिन्न और अभिन्न (क्रमशः) ज्ञेय और ज्ञाता अथवा अचेतन और चेतन के रूप में प्रस्फुरित होता है। इस प्रकार आचार्य ने स्वातन्त्र्यवाद का उन्मीलन सूचित किया है ।। १३ ।।

न चैवानुभवोऽप्यस्ति भिन्नाभिन्नविनिश्चयम् ।
मुक्त्वान्यस्य प्रकाशस्य विमर्शरहितात्मनः ॥ १४ ॥

वृत्ति—संयोजनवियोजनात्मकं स्वातन्त्र्यं विहाय सतो जडप्रकाशस्य नैव संरम्भात्मानुभवो निर्विमर्शात्मकत्वात् । एतदेव हि प्रत्यवमर्शस्य माहात्म्यं यद्विश्वं स्वात्मैक्येनान्तःस्थितं बहिरिदन्तयोद्भासयन् उद्भास्यमानमपि पुनः पूर्णाहन्ताविश्रान्त्याभेदमापादयेत् ।। १४ ।।

अनुवाद—भेद और अभेद का निश्चय करने वाले (इस स्वातन्त्र्यमय प्रकाश) को छोड़कर विमर्शरहित अन्य प्रकाश (मात्र) का अनुभव नहीं होता है ।। १४ ।।

संयोजन और वियोजनरूप स्वातन्त्र्य को छोड़कर सत् अचेतन प्रकाश का (प्रकाशन) व्यापाररूप अनुभव नहीं है क्योंकि वह (स्वातंत्र्य के बिना) विमर्श से रहित होगा। विमर्श का यही तो वैशिष्ट्य है कि वह स्वात्मा में अभेदरूप से अवस्थित विश्व को इदन्ता के रूप में बाहर उद्भासित करके पुनः उसे पूर्ण अहन्ता में विश्रान्ति के द्वारा अभेद को प्राप्त करा देता है ।। १४ ।।

इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ॥ १५ ॥

वृत्ति—इदमिति विच्छिन्नतया विमृश्यस्यास्य जडस्य या संवित्स्वरूपविश्रान्तिलक्षणा कृतार्थता । सोऽयमहमेव तत्तद्भाववैचित्र्यात्मना प्रकाशे इति । चैतन्यप्रकाशतादात्म्यादहंप्रत्यवमर्शात्मा जीवितस्थानीयो, यदाश्रयाज्जडमपि वस्तु विस्रष्टृस्वभावप्रमात्रैक्यादहंभावविश्रान्तेरजडत्वमायाति । अजडाश्च वस्तुतः परप्रमात्रेकस्वभावा, —इत्यद्वैतोऽजडप्रमातृभाव एव सर्वज्ञः पारिपूर्ण्येन विजृम्भते इति तात्पर्यम् ।। १५ ।।

अनुवाद—(अहम् से) भिन्न इदम् के रूप में प्रकाशित होने वाले इस जड (समूह) की जो 'वह यह मैं ही हूँ'—ऐसी (अहम्) स्वरूप में विश्रान्ति है, वही इसकी कृतार्थता है ।। १५ ।।

इस जड पदार्थ की, अहम् से भिन्न इदंरूप से संवित् के स्वरूप में विश्रान्ति के लक्षणवाली जो कृतार्थता है (उसका स्वरूप यह है कि) मैं ही वह (चेतन) हूँ जो उन-उन भाव पदार्थों के वैचित्र्य के रूप में प्रकाशित होता है। इस प्रकार चैतन्य के प्रकाश से ऐक्य के फलस्वरूप अहं प्रत्यवमर्शात्मा ही जीवन का पर्याय है जिसके आश्रय से अजड वस्तु भी, अनुसंधान के स्वभाव वाले प्रमाताओं में ऐक्य के कारण, अहंभाव में विश्रान्ति के कारण, अजड हो जाती है और अजड वास्तव में (स्वरूपतः) पूर्ण प्रमाता के ही स्वभाव वाले होते हैं—इस प्रकार अद्वैतरूप अजड प्रमातृभाव ही सब ओर पूरी तरह से प्रकाशित (सिद्ध) होता है। यही (यहाँ) तात्पर्य है ॥ १५ ॥

द्विधा स एष एवात्मा मितोऽपरिमितस्तथा ।
प्राणादिना निरुद्धोऽणुः परमात्मा त्वखण्डितः ॥ १६ ॥

वृत्ति—स एव संविदात्मा परमेश्वरः स्वेच्छया विश्वक्रीडोल्लिलासयिषायां प्राणाद्यात्मतामवभास्य तत्प्रमातृत्वेन संकुचितीभूय जीवतामेति, प्राणाद्यनिरुद्धस्तु विश्वनिर्भरितात्मतया पूर्णः स्वतन्त्रश्चिदात्मैवेति परिमितापरिमितत्वेन द्विविधत्वम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—वही यह आत्मा संकुचित और असंकुचितरूप से दो प्रकार का है। प्राण आदि के द्वारा निरुद्ध (आत्मा) अणु अर्थात् संकुचित है तथा (उस प्राणादि से असंकुचित आत्मा) पूर्ण परमात्मा है ॥ १६ ॥

वही संविद्रूप परमेश्वर अपनी इच्छा से, विश्वलीला (वैचित्र्य) को प्रसारित करने की अभिलाषा के अन्तर्गत प्राणादिरूप में प्रकाशित होकर तथा उसी (प्राणादि) के प्रमाता के रूप में संकुचित होकर जीव बनता है। प्राणादि से जो संकुचित नहीं है वह विश्व का आधाररूप होने के कारण पूर्ण और स्वतन्त्र चिदात्मा ही है। इस प्रकार (आत्मा) परिमित और अपरिमित रूप से दो प्रकार का है ॥ १६ ॥

उभयोऽप्येष पर्यन्तभूमिः सर्वार्थसंविदाम् ।
एक एवानुसंधानादतोऽन्यो नोपपद्यते ॥ १७ ॥

वृत्ति—द्विविधस्याप्यस्य प्रकाशात्मनः समस्तभावाभावात्मिका-

नामर्थसंविदां विश्रान्त्यास्पदत्वम् । स च पौर्वापर्यानुसंधातृतया संविन्मात्रस्फुरत्तैकरूप एव यस्मादतोभेदानुपपत्तिः ।। १७ ।।

अनुवाद—सभी पदार्थसंविन् के ये दोनों (मित और अपरिमित आत्मा) अन्तिम विश्रान्ति स्थल हैं। अनुसन्धान (अनुसन्धाता) की दृष्टि से वह (पूर्ण प्रकाशात्मा) एक ही है। इससे भिन्न अन्य (किसी तत्त्व) की सिद्धि नहीं होती है ।। १७ ।।

परिमित व अपरिमितरूप दोनों प्रकार का यह प्रकाशात्मा ही समस्त भावात्मक और अभावात्मक पदार्थ संवित्तियों का विश्रान्ति स्थान है। पूर्वता और परता का भी यही अनुसन्धाता है। इसलिये यह एकमात्र चिन्मात्र स्फुरतारूप वाला ही है क्योंकि (प्रमाता व प्रमेय में) भेद की सिद्धि नहीं होती है ।। १७ ।।

न चाप्यव्यतिरेकात्मविमर्शात्मन्यहंविदि ।
भाति पर्यन्तवर्तिन्यां भासनादधिकं जडम् ।। १८ ।।

वृत्ति—न च विश्वाभिन्नप्रत्यवमर्शस्वरूपेऽहं प्रकाशे सर्वज्ञान-विश्रान्तिभूमौ तत्प्रकाशाधिक्येन जडस्य सत्ता, तस्य संवित्प्रकाशाद्-भेदाभेदविकल्पैरुपहृतत्वात् । अत एक एवाजडप्रमाता स्वस्वातन्त्र्येण स्वाभिन्नं भावजातं स्वात्मन्येवोद्भासयन् विलापयंश्चाप्रच्युतस्वा-त्मस्थितिः प्रस्फुरतीत्यर्थः ।। १८ ।।

अनुवाद—(सभी ज्ञानों के) विश्रान्ति स्थान, आत्मविमर्शरूप अभेदात्मक अहंपरामर्श में जड के भासित होने के कारण वह (संवित्) सविशेष (विकृत) नहीं होता है ।। १८ ।।

विश्वैक्य विमर्शस्वरूपवाले अहंप्रकाश में, जो कि समस्त ज्ञानों का विश्रान्ति स्थान है, उस (विमर्शरूप) प्रकाश से अतिरिक्त जड पदार्थ की सत्ता है ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि वह संवित् प्रकाश से भिन्न है अथवा अभिन्न है इन विकल्पों से आच्छन्न है। अतः एक ही चेतन प्रमाता अपने स्वातंत्र्य के कारण, अपने से अभिन्न भावपदार्थ को अपने में ही प्रकाशित और प्रसारित करते हुए भी अपनी (मौलिक) स्वरूप-स्थिति से च्युत नहीं होता है और प्रकाशित होता रहता है ।। १८ ।।

न सिद्धोऽप्रथनादेव ज्ञानादिसमवाय्यपि ।
तत्प्राणादि प्रमेयं स्यान्न प्रमातान्यतो भ्रमात् ॥ १९ ॥

वृत्ति—ज्ञानादिगुणैः समवेतोऽपि परिमितप्रमाता विमर्शवैधुर्या-देव न सिद्ध्यति निर्विमर्शत्वे जाड्यप्रसंगात् । तस्माद्व्यवच्छिन्नां भ्रान्तिमाश्रित्य प्राणपुर्यष्टकमातुर्वेद्यत्वं स्यात्, न परमार्थप्रमातृभावः संभाव्यते ॥ १९ ॥

अनुवाद—(प्रमाता में यदि विमर्श का अभाव मानेंगे तो मात्र इसी) विमर्शाभाव के कारण प्रमाता ज्ञानादि गुणों से समवाय सम्बन्ध रखने वाला सिद्ध नहीं होगा । क्योंकि प्राणादि प्रमाता का ज्ञानविषयत्व नहीं है । यदि (प्रमाता) अन्य (विमर्शरहित प्रतीत होना) है अर्थात् प्राणादि प्रमाता प्रमेय बनता है तो इसका कारण भ्रम है ॥ १९ ॥

ज्ञानादि गुणों से समवेत होते हुए भी, विमर्श रहित होने के कारण ही संकुचित प्रमाता की सिद्धि नहीं होती । क्योंकि विमर्श रहित होने से (उस आत्मा के) अचेतन होने का प्रसंग उपस्थित होता है । अतः भेदरूपा भ्रान्ति का आश्रय लेने से प्राणपुर्यष्टक रूप आत्मा की प्रमेयता भले ही सिद्ध हो जाए, किन्तु उसकी पारमार्थिक प्रमातृता की सिद्धि संभव नहीं है ॥ १९ ॥

यद्यप्यर्थस्थितिः प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रिते ।
जीवे निरुद्धा तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता ॥ २० ॥

वृत्ति—मायाव्यवहारात्मनि लोकयात्रायां यद्यपि प्राणादिसंकोच-वति जीवे सर्वेषां बाह्याभ्यन्तराणां व्यवस्थितिः नियन्त्रिता तथापि संकुचितात्मनि तत्र मितप्रमातरि संकोचापहस्तनेन परप्रमात्रेकात्म-तया शिवात्मन्येव सा तिष्ठति प्राणादेश्चित्प्रकाशादव्यतिरेकित्वात्, शिवस्यैव स्वेच्छया समुल्लासितायाः पशुभूमिकाया ग्रहणेनाणुभावा-भ्युपगमात् ॥ २० ॥

अनुवाद—यद्यपि पदार्थों की सत्ता प्राणपुर्यष्टक (आदि) से संकु-चित हुए जीव में नियन्त्रित रहती है तथापि वह (सत्ता पारमार्थिक रूप से) परमात्मा में ही है ॥ २० ॥

मायिक व्यवहारवाली इस संसार-यात्रा में यद्यपि प्राणादि से संकुचित जीव में समस्त बाह्य और आन्तरिक पदार्थों की सत्ता नियन्त्रित है फिर भी संकुचित मितात्मा में संकोच को हटाने से परम प्रमातृरूप महेश्वर में वह अनुभूत होती है क्योंकि प्राणादि भी चित्प्रकाश से अभिन्न हैं और शिव अपनी इच्छा से प्रसारित पशुभूमिका के स्वीकार द्वारा अणुभाव को प्राप्त करता है ॥ २० ॥

तदात्मनैव तस्य स्यात्कथं प्राणेन यन्त्रणा ।
साधिता प्रत्यभिज्ञायामख्यातेर्जीवता परम् ॥ २१ ॥

वृत्ति—तस्माद्वस्तुतः शिवस्वभावाभिन्नेन प्राणादिप्रमात्रा संकुचितशक्तिकेन कथमनवच्छिन्नप्रकाशानन्दमयपूर्णाहन्तास्फुरत्तात्मनः शिवस्यावभासननिरोधः स्यात् तथात्वे तस्य स्वयं स्थातुमशक्यत्वात् केवलमपरिच्छिन्नस्वशक्तिविकासस्याप्रथनमेव बन्धकत्वपर्यायं जीवत्वं, तस्य चेश्वरप्रत्यभिज्ञायां शास्त्रे सविस्तरं निर्णीतत्वादिति तत एव विवेच्यम् ॥ २१ ॥

अनुवाद—वह (पूर्ण शिव) अपने ही रूपवाले प्राण आदि के संकोच द्वारा कैसे अज्ञानवश जीव बनता है—यह ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में सिद्ध किया गया है ॥ २१ ॥

अतः वास्तव में शिवस्वभाव से अभिन्न व संकुचित शक्तिवाले प्राणादि प्रमाता के द्वारा अविच्छिन्न प्रकाशानन्दमय पूर्ण अहन्ता, स्फुरता स्वभाव वाले शिव के अवभासन का निरोध कैसे होगा ? यदि ऐसा होता है तो उसके स्वयं के ही स्थिर न होने से केवल अपरिच्छिन्न आत्मशक्ति के विकास का अज्ञान ही बन्धन का पर्याय जीवभाव है । इसका ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (ग्रंथ) में विस्तारपूर्वक (विचार करके) निर्णय किया गया है । अतः (यह विषय) वहीं (से) विवेचन-योग्य है ॥ २१ ॥

नार्थव्यवस्था प्राणादावहंभाव निरोधतः ।
प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ॥ २२ ॥
उक्ता सैव च विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः ।
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च ॥ २३ ॥

वृत्ति—प्राणादौ परिमितप्रमात्रास्पदे जडे स्वात्ममात्रस्फुरत्तात्मनः परामर्शस्य निरोधान्नैव वस्तुव्यवस्था तस्याः संविन्निष्ठत्वात् यतो या संविदः स्वात्ममात्रविश्रान्तिः स एव पूर्णाहन्ताविमर्शस्वभावोऽहंभावोऽर्थव्यवस्थापको गीयते। सैव विश्वभावानां पर्यन्तप्रतिष्ठाभूमिकत्वाद्विश्रान्तिः, विश्वप्रसरणे स्वव्यतिरिक्तसामग्रीनिरपेक्षत्वात् स्वातन्त्र्यं, तदेव कर्तृत्वं मुख्यमैश्वर्यमप्यागमेषूद्घोष्यते ॥ २३ ॥

अनुवाद—अहं भाव के निरोध के कारण (अचेतन) प्राणादि में पदार्थ-व्यवस्था संभव नहीं है। प्रकाश का अपने स्वरूप में विश्रान्त रहना ही अहंभाव कहा गया है ॥ २२ ॥

(सब पदार्थों की अन्तिम भूमि होने के कारण) वही विश्रान्ति है, सभी अपेक्षाओं से मुक्त होने के कारण स्वातन्त्र्य है, कर्तृत्व है और प्रमुख ऐश्वर्य भी है ॥ २३ ॥

परिमित प्रमाता के आश्रय प्राण आदि अचेतन में, चिन्मात्रस्फुरता स्वरूप परामर्श के अवरोध के कारण (प्राणादि में) पदार्थ की व्यवस्था संभव नहीं है क्योंकि वस्तु-व्यवस्था संवित् के अधीन होती है। संवित् की जो अपने स्वरूप में विश्रान्ति है, वही पूर्ण अहन्तारूप विमर्श के स्वभाववाला अहंभाव है और वही पदार्थ–नियामक के रूप में प्रसिद्ध है। वही समस्त पदार्थों की अंतिम भूमि होने के कारण लयस्थान है, विश्व के प्रसार में अपने अलावा अन्य सामग्री की अपेक्षा न रखने के कारण स्वातन्त्र्य है, वही कर्तृत्व तथा मुख्य ऐश्वर्य के रूप में आगम साहित्य में उद्घोषित किया जाता है ॥ २३ ॥

मायाभिधायास्तच्छक्तेरेव चान्याप्रसिद्धितः।
तदख्यातिमयं ह्येतज्जगन्निर्मातृतेशिता ॥ २४ ॥

वृत्ति—माया नाम शक्तिः शिवस्य शक्तिमतोऽव्यतिरेकिणी स्वरूपगोपनात्मिका क्रीडा, तन्निमित्तादेव यस्मादख्यातिमयमेतद्विश्वं भासते व्यतिरिक्तकारणस्य भेदाभेदविकल्पोपहतत्वेनाप्रसिद्धत्वात्, तस्माद्विश्वाभासानां निर्मातृत्वमीश्वरत्वम् ॥ २४ ॥

अनुवाद—उस (शिव) की माया नामक शक्ति से ही अख्यातिमय

यह विश्व (भासित होता) है क्योंकि (उनके अलावा) अन्य किसी की प्रसिद्धि नहीं है। (अत:विश्व) निर्मातृत्व ही (उसका) ऐश्वर्य है ॥ २४ ॥

माया नामक (यह) शक्ति, शक्तिमान् शिव से अभिन्न है तथा (उन शिव की ही) आत्मस्वरूप के आच्छादन के स्वभाव वाली क्रीडा है। उसी के कारण अज्ञानरूप यह विश्व आभासित होता है। क्योंकि उसके अतिरिक्त दूसरा कोई (तत्त्व) भेदात्मक व अभेदात्मक विकल्पों को आच्छादित करने वाले के रूप में प्रसिद्ध नहीं है। अत: विश्व के आभासों को आभासित करना ही उसका ऐश्वर्य है ॥ २४ ॥

एकैव चानुसंधानात्सा प्रोक्ता सर्वसंविदाम् ।
स्वसंवेदनपर्यायमातृतत्त्वमनादि तत् ॥ २५ ॥

वृत्ति—सैश्वरी पराशक्तिः समस्तानां विच्छिन्ननीलादिसंविदां संयोजनादौ कार्ये पूर्वापरादिकोटावैक्यानुसंधानमाश्रित्य तदाधारभूतानवच्छेदिनी एकैव, तदेव स्वसंवेदनपर्यायं मातुरनादितत्त्वमुच्यते ॥ २५ ॥

अनुवाद—सभी ज्ञानों के अनुसन्धान के कारण वह (पराशक्ति) एक ही कही गई है। वह आत्मज्ञान का पर्याय अनादि शक्तितत्त्व है ॥ २५ ॥

परस्पर भिन्न-भिन्न (भासित होने वाले) नील आदि ज्ञानों के संयोजन, वियोजन आदि कार्य में, पूर्व, अपर आदि श्रेणियों में ऐक्य के अनुसन्धान के द्वारा उनका आधार बनने वाली वह अभिन्ना पराशक्ति एक ही है। वही प्रमाता के आत्म-संवेदन का पर्याय तथा अनादितत्त्व कही जाती है ॥ २५ ॥

भावव्यवस्था यन्निष्ठा तस्याहंभावभागिनः ।
व्यापित्वमनुसंधानं तज्जडस्य न युज्यते ॥ २६ ॥

वृत्ति—यत्र सर्वार्थानां व्यवस्थितिः प्रतिष्ठिता तस्य संविदात्मनः पूर्णाहन्तापरामर्शसारस्याजडप्रमातुः स्वातन्त्र्याविनाभाववत्त्वात्सर्वत्रानुसंधानात्मकं व्यापित्वमस्ति, तच्चास्वतन्त्रस्य जडस्य न घटते विमर्शसारत्वाभावात् ॥ २६ ॥

अनुवाद—पदार्थों की व्यवस्था जिसके अधीन है, अहंभाववाले उसी (प्रकाश) का अनुसंधानरूप व्यापित्व भी है। वह (अनुसंधान) अचेतन में मानना उचित नहीं है ॥ २६ ॥

जिस (तत्त्व) में सभी पदार्थों की व्यवस्था प्रतिष्ठित है संविद्रूप, पूर्णाहन्ता परामर्श के साररूप उस चेतन का ही सर्वत्र अनुसन्धानात्मक व्यापित्व (भी) है क्योंकि वह स्वातन्त्र्य के अविच्छिन्न स्वभाववाला है। वह (पदार्थ-व्यवस्था) स्वातन्त्र्य से शून्य अचेतन में संभव नहीं है क्योंकि अचेतन में विमर्शसारता का अभाव होता है ॥ २६ ॥

ततो भेदे तु भास्यस्य घटते भासमानता।
तेनोक्तं प्रत्यभिज्ञायां तदद्वयमयं जगत् ॥ २७ ॥

वृत्ति—अजडत्वमाश्रित्य पुनरेतावति भेदोल्लासात्मके विश्वस्मिन् नीलसुखादेर्भास्यस्यापरिक्षीणान्तःस्थितेरेव ज्ञानशक्त्याबहिर्भासिनः प्रकाशमानताया घटनात्, अथ चाभेदमवलम्ब्य जडस्य पुनः प्रकाशनोपपत्तेरन्यथा त्वप्रकाशनात्। तेन हेतुना श्रीमदीश्वरप्रत्यभिज्ञायां संविदद्वयप्रकृति विश्वमुक्तं भवतीति शिवम् ॥ २७ ॥

प्रमातृसिद्धावाचार्योत्पलदेवकृतौ मनाक्।
चन्द्राब्ध्यष्टेन्दुशाकाब्दे शास्त्री वृत्तिं हरो व्यधात् ॥

इत्यजडप्रमातृसिद्धौ श्रीमन्महामाहेश्वराचार्योत्पलदेवपादविरचितायां वृत्तिः समाप्ता।



अनुवाद—और फिर भास्यमान (पदार्थ) के भेद से ही (उस प्रकाश-विमर्शमय की) भासमानता घटित होती है। इसीलिये (ईश्वर) प्रत्यभिज्ञा ग्रन्थ में जगत् को अद्वयप्रकृति वाला कहा गया है ॥ २७ ॥

इस भेदमय संसार में अजडप्रमातृत्व का आश्रय लेकर ही अपरिक्षीण आन्तरिक स्थिति वाले और ज्ञान शक्ति के द्वारा बाहर प्रकाशित होने वाले नील सुखादिरूप से भास्यमान पदार्थों की प्रकाशमानता घटित होती है और अभेद का आश्रय लेकर ही जड की पुनः प्रकाशमानता सिद्ध हो सकती है अन्यथा तो वह अप्रकाश ही रहेगा। इसी कारण से श्रीमदीश्वरप्रत्यभिज्ञा

(ग्रंथ) में यह कहा गया है कि यह विश्व संवित् से अद्वय के स्वभाव वाला है। इति शिवम् ॥ २७ ॥

अनुवाद—प्रमातृत्व सिद्ध करनेवाली आचार्य उत्पलदेव की इस कृति पर (इन्दु = १ + अष्ट ८ + अब्धि ४ + चन्द्र १ =) १८४१ वें वर्ष में पं० हरभट्ट शास्त्री ने वृत्ति लिखी।

इस प्रकार श्रीमान् महामहेश्वराचार्य उत्पलदेवपाद द्वारा रचित अजडप्रमातृसिद्धि की वृत्ति समाप्त।

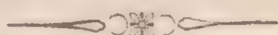


॥ ओ३म् ॥

अथ

ईश्वरसिद्धिः

श्रीमदाचार्योत्पलदेवविरचिता



.... ।

करोति तमहं देवमेकं नौमि महेश्वरम् ॥ १ ॥

तनुकरणादिकार्यं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकं संनिवेशविशेषवत्वात्, यद्यत्संनिवेशविशेषवत् तत्तद्बुद्धिमत्कर्तृनिर्मितं यथा घटः, बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकं यन्न भवति न तत् संनिवेशविशेषवत्कार्यं यथा परमाण्वाकाशशशविषाणादि, तथा च भवति संनिवेशविशेषवत् तन्वादिकार्यं, तस्माद्बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकमिति । तदाह —

तन्वादि बुद्धिमद्धेतु संनिवेशविशेषवत् ।
घट ... ... परमाणुवत् ॥ २ ॥ इति ।

(मैं उत्पलाचार्य) उस अद्वय देव महेश्वर को प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

शरीर इन्द्रिय आदि कार्य बुद्धिमान् कर्ता से किये जाते हैं क्योंकि वे विशेष संनिवेश (अवयव अथवा संघात) वाले होते हैं। जो-जो (कार्य) विशेष संनिवेश वाला होता है वह-वह बुद्धियुक्त कर्ता से निर्मित होता है जैसे कि घट। जो (कार्य) बुद्धिमान् कर्ता वाला नहीं होता वह कार्य संनिवेश विशेष वाला भी नहीं होता है जैसे परमाणु, आकाश, शशविषाण आदि। शरीर, इन्द्रिय आदि कार्य वैसे अर्थात् संनिवेश विशेष वाले होते हैं अतः (वे) बुद्धिमान् कर्ता वाले (भी) होते हैं। इसी को कहते हैं —

संनिवेश विशेष वाले शरीर आदि (कार्य) बुद्धिमान् (निमित्त) कारण वाले हैं जैसे घट······और परमाणु की तरह······॥ २ ॥

अत्र च धर्मिसंबन्धबलात् ··· ··· हेतुभूतार्थक्रियोपयोगिता च कथ्यते। घटस्य हि मृदुपादानकारणत्वेन सिद्धा। तत्र च न पृथुबुध्नोदराकारसंनिवेशविशेषसंभवः, लोकयात्रायाश्च तथा संनिवेशविशेषवता विचित्रेण वस्तुना विना महती खण्डना, सहकारी च तथा संनिवेशवत एव रूपरसाद्यन्यथात्वे व्याप्रियेत। यथा स्वच्छसरस्यूष्मसंपर्कः। वायुसंबन्धवशादपि कार्यस्य संस्थानान्तरं स्यादपि कदाचित् न तु नियमेन भवेत् अनन्तपदार्थसार्थस्य समानजातीयतोत्थापननिमित्तमन्यथापि वायुप्रसरस्य संभवात्, एकरूप······ उत्थापकत्वे वा वायुरेव बुद्धिमानस्तु······ किं संविदा······।

बुद्धिमत्प्रेरितो वा···· ····।
··· ···· ··· ततो घटो यथा ॥ ३ ॥ इति।

घटजातीय एव दृष्टान्तधर्मी·········· रपि तदाकारनियतः साध्यधर्मितया जातिप्राधान्येनैवोपादीयते। तदित्थं धर्मविशेष-

---

और यहाँ धर्मी सम्बन्ध के कारण······कारण में रहने वाली अर्थक्रिया की उपयोगिता कही जाती है। घट के उपादान कारण के रूप में मृत्तिका प्रसिद्ध ही है। वहाँ (मृत्तिका में) विशाल गले, पेट आकार (आदि वाला) संनिवेश विशेष संभव नहीं है। पदार्थ को संनिवेश विशेष से युक्त तथा वैविध्य से पूर्ण न मानने से लोक-व्यवहार की बड़ी हानि हो जाएगी। सहकारी कारण उस प्रकार के संनिवेश वाले (कार्य) के रूप, रस आदि को अन्य (रूप आदि) से युक्त बना देता है। जैसे कि स्वच्छ तालाब में गर्मी का संपर्क। वायु के सम्बन्ध से भी कभी-कभी (जलान्दोलनरूप) कार्य का अन्य स्थान में जाना संभव है किन्तु नियमपूर्वक (सदैव) ऐसा नहीं होता क्योंकि अनन्त पदार्थों के समूह को साथ लेकर चलने वाला वायु का प्रसार (शाखा आदि) समान जाति वाले सहकारी कारणों के अतिरिक्त अन्य निमित्त से भी संभव है···। यहाँ वायु को बुद्धिमान् कर्ता का स्थानापन्न मानें और संवित् को न मानें तो क्या हानि है। इसीको कहते हैं—

अथवा बुद्धिमान् से प्रेरित······तब जैसे घट ॥ ३ ॥

घटजातीय ही दृष्टान्तधर्मी······उसके आकार में नियत है तथा साध्यरूप धर्मी होने से जाति की प्रधानता के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है।

संनिवेशविशेषो लोकयात्रानिर्वाहकहेतुरुपादानकारणासंभवी च न स्वतन्त्रेच्छावत्कारणसंबन्धमन्तरेण नियमात् उपादानदेशपरिहारेणापरदेशगमनेनोपपद्यते । कर्माण्यपि सहकारितामापद्यमानानि तदवस्थासंस्थाने रूपमात्रवैचित्र्यं विदध्युः । न त्वेकैकसाधना देशक्रमाक्रमलक्षणा संनिवेशनापदेशा सदृशार्थक्रियाकारिसजातीयार्थजातोत्थापननियता क्रिया तत्कार्या भवितुमर्हति । यद्यप्याधारसंयोगभङ्गोत्पानलक्षणा क्रिया स्यात् तथापि आधारस्यैकसंस्थानावस्थानात् भङ्ग एव नोपपन्नो यावत्साक्षात् पारंपर्येण वापि अवयवानामस्य प्रेक्षापूर्वकारिणा बुद्धिमता देशान्तरसंचरणं न कृतं, वातादिकृत·······मयमप्रसङ्गः प्रागुक्त एव । ······
······निरुपाख्यतामाधारमापादयन्नाधेयमधः पातयति, तदाप्यग्नेः प्राक्तनदेशपरिहारे निमित्तान्तरमिच्छावद्वाच्यम् ।··············

तो इस प्रकार विशेष धर्म से युक्त संनिवेश विशेष ही लोकव्यवहार का सम्पादक कारण है, उपादान कारण (मात्र) नहीं । स्वतंत्र इच्छावाले (निमित्त) कारण (अथवा कर्ता) से सम्बन्ध (स्थापित किये) बिना, वह (कार्य) उपादान (कारण) के स्थान को छोड़कर (कार्य के) दूसरे स्थान में जाने मात्र से ही नियमानुसार संभव नहीं है । सहकारी कारण बनने वाले पदार्थ कार्यावस्था के संस्थान में केवल आकार की विविधता को ही उत्पन्न करते हैं । प्रत्येक कार्य का साधन बनने वाली, देश के क्रम व अक्रम के लक्षण वाली, समान अर्थक्रिया को करने वाले सजातीय पदार्थ समूह से अपने प्रादुर्भाव को नियत करने वाली तथा संनिवेश नाम से उल्लिखित क्रिया उस (सहकारी कारण) का कार्य नहीं हो सकती । आधार से (आधेय के) सम्बन्ध की समाप्ति के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली क्रिया यद्यपि वहाँ (कार्योत्पत्ति में) अवश्य होती है फिर भी (कार्योत्पत्ति के बावजूद) आधार के (सदैव) एक ही स्वरूप (संस्थान) में स्थिर रहने से (उक्त सम्बन्ध की) समाप्ति ही (तब तक) सिद्ध नहीं होगी जब तक कुशल दृष्टिवाला बुद्धिमान् कर्ता इसमें अवयवों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से अन्य स्थान पर संचालित नहीं करता । वायु आदि की प्रेरणा (से जल के अन्य स्थान :पर जाने) का प्रसंग पहले ही कहा जा चुका है । निरूपाख्यता······आधार को प्राप्त कराते हुए आधेय को नीचे गिरा देता है, अग्नि के द्वारा (अपने) पूर्व स्थान को छोड़ने के प्रसंग में, इच्छा की तरह (ही) अन्य निमित्त कारण बताया जाना चाहिये ।

पार्थिवद्रव्यसंघर्षजत्वेऽपि पूर्ववन्नियमोद्घोषणदूषणम् । यदा पुनर्नियमेनाग्नेः स्वेदपाकदाहादिना द्रव्यमन्यसंनिवेशं करोति, येन विशिष्टजातिभाञ्जि भावान्तराण्युच्छूनतादिरचनाविशेषवन्ति उत्तिष्ठन्ति, तदा बुद्धिमत्प्रेरणोपपादिततथाकृतीनि तानि, नान्यथा पूर्वोक्तनयेन नियमयोगः । तदेवमुपादानासंभवी देशान्तरोपसर्पणात्मा लोकस्थितिहेतुः संनिवेशो नियमेन तज्जातीयतापादको बुद्धिमत्कारणाभावे सर्वथानुपपद्यमानो बुद्धिमत्कर्तृनिर्मितो दृष्टः ।...... .....

... ... कसंस्थानवर्जितः ।
निश्चितोऽर्थोऽस्य संस्थाने तस्मिन्नर्थक्रियाचिते ॥ ४ ॥
विचित्रे बुद्धिमानेव घटादिष्विव लक्ष्यते ।
कर्ता विज्ञो विचित्रैतदुपयोगाभिसंधिमान् ॥ ५ ॥ इति ॥

(काष्ठ आदि) पार्थिव द्रव्यों के संघर्षण से उत्पन्न होकर भी अग्नि (एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है ऐसी मान्यता में भी) पहले की तरह, नियम के उल्लंघन का दोष (दिखाया जा सकता) है । जब कोई द्रव्य अग्नि के बाष्प, पाक, दाह आदि की सहायता से नियमपूर्वक, अन्य (पदार्थ या कार्य) में संनिवेश को ग्रहण करता है—जिसके कारण विशिष्ट जाति (स्वभाव) वाला वह पदार्थ (अग्नि), फैले हुए अन्य विशेष पदार्थों (विस्फुलिगों) के रूप में उठा हुआ दिखाई देता है, तब वे (अग्नि आदि कारण) बुद्धिमान् कर्ता की प्रेरणा से उस रूप (विस्फुलिंगरूप कार्य) में संपादित होते हैं, (ऐसा मानना होगा) अन्यथा पहले कहे गये नियम से (इस दृष्टान्त की) कोई संगति स्थापित नहीं होगी । तो इस प्रकार उपादान से उत्पन्न न होनेवाला, एक स्थान से दूसरे स्थान पर संक्रान्त होने वाला और लोक-व्यवहार का कारण संनिवेशरूप कार्य नियमपूर्वक कारण से समानता रखने वाला है, बुद्धियुक्त चमत्कार के अभाव में सर्वथा असिद्ध है । अतः उसे बुद्धिमान् कर्ता से निर्मित देखा गया है ।......

विचित्र अर्थक्रियावाले उस संस्थान में इसका संस्थानवर्जित अर्थ निश्चित है ॥ ४ ॥

जिस प्रकार घटादि में बुद्धिमान् का (कर्तृत्व) दिखाई देता है (उसी प्रकार) वैविध्य के उपयोग की अभिसन्धि वाला वह सर्वज्ञ कर्ता है ॥ ५ ॥

व्याप्तिसिद्धये न चाप्येष संनिवेशविशेषस्तन्वादिष्वसिद्धः। तथा हि शरीरे तावदुपादानकारणं शुक्रशोणितादि सिद्धम्। न चास्य तत्संनिवेशयोगः। चक्षुःश्रोत्रपाणिपादादेरपि तदेवोपादानमतत्संनिवेशि, भुवनानामपि पार्थिवाद्यर्थरचनात्मकानां मृदाद्युपादानमतत्संनिवेश्येव सिद्धं, नात्र किंचिद्दुरुपपादम्। लोकयात्रात्राणहेतुतापि शरीरादेः सर्ववादिसिद्धैव प्रत्यक्षत एव। नात्रास्थाने विस्तरोपन्यासः सफलः। ततः सिद्ध एव हेतुः ॥ तदाह

अस्ति चार्थक्रियायोगे शरीरभुवनादिषु।
संनिवेशविशेषोऽयमनुपादानसंभवी ॥ ६ ॥ इति ॥

ईश्वरसिद्धिपर्यवसानश्चायं साधनार्थः। तन्वादिषु हि विश्वापरपर्यायेषु परस्परानुगुणेषु सर्वेषु यावज्ज्ञानं नास्ति तावत्कथं निर्मित्सा स्यात्,— इति सर्वज्ञता तावत्स्थिता, तथा निर्माणसामर्थ्याच्च अनेकत्वे

यह संनिवेश विशेष, व्याप्ति की सिद्धि के लिए, शरीर आदि में असिद्ध नहीं (अर्थात् सिद्ध) है क्योंकि शरीर (कार्य) के उपादान कारण के रूप में शुक्र, रक्त आदि सिद्ध ही हैं और इसका उस संनिवेश से (साक्षात्) सम्बन्ध भी नहीं है। आँख, कान, हाथ, पैर आदि का भी वही (शुक्र, रक्त आदि) उपादान (कारण) है जो कि उसकी तरह संनिवेशी नहीं है। पृथिवी आदि द्रव्यों से निर्मित लोकों का भी मृत्तिका आदि उपादान कारण है जो कि उनकी तरह संनिवेशी नहीं है—यह सिद्ध है। इसमें कठिनाई से सिद्ध होने वाली कोई बात नहीं है। शरीर से लोकव्यवहार की रक्षा होती है (अथवा शरीर आदि लोक-व्यवहार की रक्षा का कारण या मूल आधार) है, यह सभी मतों में प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अप्रासंगिक होने से यहाँ इस विषय का विस्तार लाभदायक नहीं है, अतः (उपर्युक्त) हेतु सिद्ध ही है। इसी को (आगे) कहते हैं—

शरीर, भुवन आदि (कार्यों) में अर्थक्रिया का योग होने पर यह सन्निवेशविशेष उपादान कारण (मात्र) से उत्पन्न होनेवाला नहीं है ॥ ६ ॥

यह साधनार्थ ईश्वर की सिद्धि में समाप्त होने वाला है। परस्पर समान गुणवाले, विश्व के अन्य पर्याय शरीर आदि सभी में, जब तक ज्ञान नहीं होगा तब तक निर्माण की इच्छा कैसे होगी—अतः इस प्रकार सर्वज्ञता तो

प्रमाणाभावाच्च एकस्य सर्वकर्तृत्वम्,—इति धर्मिविशेषसंबन्धौचित्यात् ईश्वर एव बुद्धिमान् पर्यवस्यति ॥ तदाह

तदत्र बुद्धिमत्कर्तृसिद्धया सिद्धेश्वरक्रिया ।

न हि तादृशवैचित्र्यविदुषः स्यादनीशिता ॥ ७ ॥ इति ॥

तथा हि संनिवेशविशेषस्य बुद्धिमन्मात्रेण अन्वयः प्रदर्श्यते, न तु बुद्धिमद्विशेषेण कुम्भकारेण ईश्वरेण वा; तत्तु सामान्यरूपं न विशेषसंबन्धं विना स्थितिं लभते,—इतिपक्षसंबन्धौचित्यानुसारेण व्यक्तिविशेषं कुलालं कुविन्दमीश्वरमन्यं वाप्याश्रयविशेषमाश्रयत्वेनावलम्बते। यथा धूममात्रेण दूरात् खदिरवनेऽग्निमात्रेऽपि अनुमीयमाने खादिरत्वविशेषो धूमविशेषानपेक्षयापि आश्रयवशात्प्रसिद्धयति । यथा वा सांख्येनैव आत्मसिद्ध्यर्थं चक्षुरादौ धर्मिणि संघातवत्त्वलक्षणे हेतावुपन्यस्ते तस्य पारार्थ्यमात्रेण अन्यत्र शयनासनादौ अन्वयदर्शनेऽपि

सिद्ध है ही । (उस विश्वकर्ता की) अनेकता में प्रमाण का अभाव होने के कारण और निर्माण की सामर्थ्य (उसी में) होने के कारण उस एक तत्त्व का ही सर्वकर्तृत्व सिद्ध है । इस प्रकार धर्मिविशेष से सम्बन्ध के औचित्य के कारण ईश्वर ही वह एक बुद्धिमान् तत्त्व सिद्ध होता है । इसी को कहते हैं—

तो यहाँ बुद्धिमान् कर्ता की सिद्धि से (ही) ईश्वर का कर्तृत्व (भी) सिद्ध है । उस प्रकार की विचित्रताओं का ज्ञान रखनेवाले की अनीश्वरता नहीं है ॥ ७ ॥

यहाँ संनिवेश विशेष का, बुद्धिमान् प्रमाता से अन्वय प्रदर्शित किया जाता है न कि बुद्धियुक्त कुंभकार या ईश्वर विशेष से । यह (अन्वय) सामान्यरूप है और विशेषरूप सम्बन्ध के बिना संभव नहीं है—इस तरह पक्ष के सम्बन्ध के औचित्य के अनुसार व्यक्तिविशेष कुलाल, जुलाहे या ईश्वररूप अन्य आश्रय-विशेष का अवलंबन लेता है । जैसे धूम मात्र को दूर से ही देखकर खदिर वन में अग्नि का अनुमान हो जाता है । यहाँ धूमविशेष की अपेक्षा के बिना भी खदिरत्व विशेष भी सिद्ध हो ही जाता है क्योंकि आश्रय ही वैसा है । अथवा जैसे सांख्यदर्शन आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिए, चक्षु आदि धर्मी में, जो कि संघात से युक्त हेतु हैं, मानता है । उस प्रधान के दूसरे के लिए होने के कारण शयन, आसन आदि से भिन्न से

असंहत एवात्मा परो धर्मिसंबन्धबलाल्लभ्यते, न हि चक्षुरादेर्बुद्धि-पर्यन्ताद्धर्मिणः परोऽसंहतरूपमात्मतत्त्वं विहाय अपरः संभवति,— इति तथाभूतपक्षसामर्थ्यादेव तस्यात्मतत्त्वस्यैव तत्र सिद्धिः। न तु तेनैव शयनासनादावन्वयः प्रदर्शनीयः, येन साध्यविकलत्वात् दृष्टान्त-स्यासिद्धान्वयता हेतुदोषः स्यात्। नापि व्यवहर्तृपुरुषाकारपरार्थत्वे-नान्वयः, येनात्मविरुद्धसंहतार्थसाधनाद्विरुद्धता स्यात्। एवमिहापि नेश्वरेण बुद्धिमता कुम्भकारेण वा अन्वयप्रदर्शनं, यतोऽसिद्धान्वयता-दिदोषोद्भावनं क्रियते। तथोक्तं परैः

'कुम्भकाराद्यधिष्ठानं घटादौ यदि वेष्यते।
नेश्वराधिष्ठितत्वं स्यादस्ति चेत्साध्यहीनता॥
यथासिद्धे च दृष्टान्ते भवेद्धेतोर्विरुद्धता।' इति।

किं तु बुद्धिमन्मात्रेणैव अन्वयादि प्रदर्श्यते, तन्वादिषु च बुद्धि-

---

अन्वय दिखाई देने पर भी, धर्मी के सम्बन्ध के फलस्वरूप असंहत ही परम आत्मा ज्ञात होता है, न कि चक्षु आदि बुद्धि पर्यन्त (स्थित) धर्मी से पर, असंहतरूप आत्मतत्त्व को छोड़कर अन्य कोई सिद्ध होता है—इस तरह, वैसी पक्ष-सामर्थ्य के कारण ही उस आत्मतत्त्व की वहां (सांख्यदर्शन में) सिद्धि होती है। उसी के साथ शयन, आसन आदि का अन्वय नहीं दिखाया जाना चाहिये जिससे कि साध्य-शून्य होने से दृष्टान्त की असिद्ध अन्वयता हेतु दोष बने। न ही यहाँ व्यवहार करनेवाले पुरुषाकाररूप अन्य वस्तु से अन्वय होगा जिससे आत्मविरुद्ध संहतार्थ साधन से विरोध हो। इस प्रकार यहाँ (सांख्य में) भी न तो ईश्वर से न बुद्धिमान् कुम्भकार से अन्वय दिखाया गया है जिससे कि असिद्धान्वयता आदि दोषों की संभावना न हो। जैसा कि अन्य (श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेप० श्लोक ७३, पृ० ८०८ में कुमारिलभट्ट) ने कहा है—

"घट आदि में यदि कुम्भकार आदि को अधिष्ठान माना जाता है तो (फिर वह घटादि) ईश्वर से अधिष्ठित नहीं होगा और यदि (ईश्वर से अधिष्ठित माना जाता) है तो साध्य (कुम्भकाररूप अधिष्ठान) की हानि होगी और यथासिद्ध दृष्टान्त में हेतु-विरोध (का दोष) होगा।"

किंतु (फिर भी) बुद्धिमान् प्रमाता से अन्वय आदि दिखाया जाता है

मन्मात्ररूप एव कर्तास्माभिः प्रसाध्यते, तस्य तु तत्र सिद्ध्यतो विश्वकर्तृतारूपमैश्वर्यमीश्वरशब्दव्यवहार्यमापतति। क्वचिद्घटादौ कर्ता कुलालशब्दव्यपदेश्यः फलतः संपद्यते न तु ईश्वरत्वं तनुकरणादेर्विश्वस्य कर्तुः संनिवेशविशेषानुमिताद्बुद्धिमतोऽन्यत्किंचित्, यत्साधनाय यस्य हेतोरत्राव्यापारात् प्रमाणान्तरमन्विष्येत। अन्योन्योपयोगितनुकरणादिसर्वक्रियैव ईश्वरत्वं, यथा मृत्संनिवेशविशेषकर्तृतैव कुलालत्वम्। पक्षसंबन्धश्च धर्मो यदि प्रमाणान्तरसाध्यः स्यादनुमानस्य, तर्हि तदा को विशेषो धर्ममात्रस्य अनियतदेशादित्वेन-अप्रमाणविषयत्वादस्य व्याप्तिमात्रविषयत्वं न तु त्रैरूप्यफलत्वम्। तेन यथा धूमेनाग्निः सामान्येन क्वचित्प्रदेशे साध्यमानस्तत्प्रदेशाधारविशिष्टः सामर्थ्यात्सिध्यति न तु तत्र प्रमाणान्तरमुपयुज्यते, तथा ईश्वरसाधनेऽपि। न च शक्यं वक्तुं प्रदेशायोगव्यवच्छेदनाग्नि

और शरीर आदि (के प्रसंग) में बुद्धिमान् प्रमातृ-रूप कर्ता को ही हम सिद्ध करते हैं। उसकी वहाँ सिद्धि से ईश्वर शब्द से संकेतित, विश्वकर्तृत्वरूप ऐश्वर्य (का प्रसंग) आ जाता है। फलस्वरूप कहीं घटादि का कुलाल शब्द से सूचित कर्तृत्व तो सिद्ध हो जाएगा किन्तु शरीर, इन्द्रिय आदिरूप विश्व के बुद्धिमान् कर्ता से अन्य कुछ अर्थात् ईश्वर सिद्ध नहीं होगा जिसके कारण की सिद्धि के लिए यहाँ अन्य प्रमाण का अन्वेषण किया जाए। दूसरे-दूसरे के लिये उपयोगी, शरीर, इन्द्रिय आदि की समस्त क्रिया ही ईश्वरत्व है जैसे कि मिट्टी को सन्निवेश विशेषरूप में लाना (मिट्टी का सन्निवेश करना) ही कुम्भकारत्व है। अनुमान का पक्ष-सम्बन्ध धर्म यदि अन्य प्रमाण से सिद्ध होने योग्य हो तो धर्म मात्र के अनिश्चित देशादि से, प्रमाण का विषय न होने के कारण इसका क्या भेद होगा क्योंकि व्याप्ति मात्र ही इसका विषय है न कि तीनों रूपों का फल। अतः जिस प्रकार किसी स्थान में, उस प्रदेश के आधार विशेष वाली, साध्यमान अग्नि (अपनी) सामर्थ्य के कारण सामान्य (अनुमान) से ही सिद्ध होती है, वहाँ अन्य प्रमाण की उपयोगिता नहीं है, उसी प्रकार ईश्वर को सिद्ध करने में भी (अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है)। और यह कहना तो संभव नहीं है कि स्थान का भेद अग्नि में भेद उत्पन्न करता है क्योंकि वह (अग्नि यदि) विशेष (भेद वाली) है तो केवल धर्मिसम्बन्ध

विशेषयत्येव, स तु विशेषः केवलं धर्मिसंबन्धबलात्सिध्यति न तु प्रमाणान्तरापेक्षसिद्धिकः, तथैवेह बुद्धिमानपि विश्वनिर्माणशक्तिः सिद्ध्येत्; किं त्वग्निप्रदेशावच्छेदेऽग्निरित्येव व्यवह्रियते, तन्वादि-कर्ता पुनर्बुद्धिमान् ईश्वरशब्देनाऽपि,–इतीयानेव विशेषः, ततो न विरुद्धतादिदोषावकाशः ॥ तदाह

न कुलालेन नेशेनाप्यन्वयोऽत्र प्रदर्श्यते ।
यतो विरुद्धतास्य स्यादसिद्धान्वयतापि वा ॥ ८ ॥
केवलं बुद्धिमन्मात्रव्याप्तिसंदर्शनादपि ।
पक्षधर्मबलाद्धीमान्कचित्कश्चित्प्रतीयते ॥ ९ ॥
यथा पारार्थ्यमात्रेण संघातत्वेऽन्विते[1]क्षिते ।
चक्षुरादौ तदौचित्यादात्मेष्टोऽसंहतः परः ॥ १० ॥

के प्रभाव से उसका वैशिष्ट्य सिद्ध होता है न कि उसकी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता है। उसी प्रकार यहाँ भी (सामान्य अनुमान से ही) बुद्धि से युक्त विश्वनिर्माण की शक्ति सिद्ध होती है। किन्तु दोनों में यही भेद है कि अग्नि से आवृत्त प्रदेश को अग्नि शब्द से सूचित किया जाता है और शरीर आदि के बुद्धिमान् कर्ता को ईश्वर शब्द से (व्यवहृत किया जाता है)। अतः (उक्त प्रसंग में) विरोध आदि के दोषों का कोई अवसर नहीं है। इसीको कहते हैं—

यहाँ न तो कुलाल से और न ही ईश्वर से अन्वय दिखाया जाता है क्योंकि (ऐसा न करने पर) इस (स्थापना) में विरूद्धता और असिद्धान्व-यता के दोष होंगे ॥ ८ ॥

केवल बुद्धिमान् मात्र में व्याप्ति देखने से ही पक्षधर्म के बल से कहीं (किसी कार्य का) कोई (कर्ता) बुद्धिमान् प्रतीत होता है ॥ ९ ॥

जैसे (सांख्यदर्शन में) संघात को दूसरे के लिए देखते हुए, उसी औचित्य को चक्षु आदि में देखकर पर व असंहत आत्मा की इष्टसिद्धि होती है ॥ १० ॥

---

१. क्षते इति पाठान्तरम् ।

यथा वा दूरतो धूमात्सिद्धिः खदिरकानने ।
वह्निस्तत्प्रतिपत्त्यैव खादिरत्वेन सिद्धयति ॥ ११ ॥ इति ॥

न चापि घटादिस्वलक्षणो विशिष्ट एव संनिवेशः प्रमाणेन सिद्धः--इति स एवान्यत्र धर्मिणि अदृष्टकर्तृके दृष्टसजातीयकमेव कर्तारं साधयति न तु संनिवेशनामात्रं, तस्य सामान्यरूपस्य कार्यत्वासिद्धेरिति वाच्यम्; यतः स्वलक्षणमेव। यद्यपि स्वलक्षणापेक्षया दर्शनादर्शनाभ्यां कार्यं प्रतीयते, तथापि तत्तथा स्वलक्षणं कार्यत्वेन तथा सिद्धं सजातीयस्वलक्षणान्तराण्यपि तत्कारणसजातीयस्वलक्षणान्तरकार्यत्वेन व्यवस्थापयति। यदा सकृदप्येको धूमोऽग्निकार्यतया सिद्धो धूमान्तराण्यपि अग्निकार्यत्वे सिद्धान्येव करोति। तच्च कार्यस्वलक्षणमनेकसहकारिजन्यतयानेकविधस्वलक्षणान्तरैः सजातीयम्। तथा च घटस्वलक्षणं मृण्मयत्वेन

अथवा जैसे खदिरवन में दूर से ही धूम (देखने) से वह्नि की सिद्धि हो जाती है और इस (वह्नि-) ज्ञान से ही (वह्नि का) खदिरत्व भी सिद्ध हो जाता है ॥ ११ ॥

घट आदि स्वलक्षण वाला विशिष्ट सन्निवेश प्रमाण से सिद्ध होता है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह भी अदृष्ट कर्तावाले धर्मी से भिन्न सजातीय कर्ता को ही सिद्ध करता है न कि संनिवेशमात्र को, क्योंकि उस सामान्यरूप वाले (कारण) की कार्यता सिद्ध नहीं है—ऐसा कहना चाहिये, इस कारण से स्वलक्षण ही है। यद्यपि स्वलक्षण के फलस्वरूप, दर्शन-अदर्शन (दिखाई देने और दिखाई न देने) के द्वारा कार्य की प्रतीति होती है फिर भी उस प्रकार का स्वलक्षण, कार्य के द्वारा उस प्रकार सिद्ध होकर, अन्य स्वजातीय लक्षणों को, उसके कारणभूत अन्य स्वजातीय लक्षणों के कार्य के रूप में, व्यवस्थापित करता है। जैसे एक बार भी अग्नि के कार्य के रूप में सिद्ध हुआ धूम, अन्य धूमों को भी अग्नि के कार्य के रूप में सिद्ध करता है। और वह स्वलक्षण कार्य नाना सहकारी कारणों से उत्पन्न होने के कारण, अनेक दूसरे स्वलक्षणों से सजातीय है। उसी प्रकार घट स्वलक्षण (कार्य) मृत्तिकारूप होने से वल्मीक आदि से (सजातीय है), संनिवेश होने से (ही) पट आदि से

वल्मीकादिभि, संनिवेशेन पटादिभिः, परिवर्तुलत्वेन पिष्टादिमयशरावादिभिर्विच्छिन्नत्वेन च्छिन्नवृक्षादिभिरित्येवमादिना क्रमेण एकैकजातियुक्तानि स्वलक्षणानि एकैककारणकार्याणि व्यवस्थाप्यन्ते। तज्जातोयार्थितायास्तज्जातीयकारणोपादानाय सौगतैरपीयं व्यवस्था कृता, न मृदः संस्थानं न कुलालान्मृद्रूपता इत्येवं वदद्भिः। वस्तुस्थितिश्चेदृश्येव, न हि यथा घटः संस्थानवान् बुद्धिमता पुरुषेण नियतेन तथा पटोऽपि। तथैव च प्रतीतिरुभयत्रापि प्राज्ञकृतत्वप्रतीतेरुपयोगाय च प्रवृत्तिरित्येवंव्यवसायैव। केवलं तेषां परेषां सौगतानां यथा सजातीयत्वं जात्या विनैव अवश्याभ्युपगन्तव्यम् एकप्रत्ययकारित्वं स्वलक्षणनिष्ठमेव तथैव एतदपीति,

'सिद्धं यादृगधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमत्।
संनिवेशादि तद्युक्तं यस्मात्तदनुमीयते॥

(प्रमाणवार्तिकम्, १. १३)

(सजातीय है) परिवर्तुलता के कारण, पिष्टादि युक्त शराव आदि से (सजातीय है) कटा हुआ (सम्पृक्त) होने से कटे हुए वृक्ष आदि से (सजातीय है) इत्यादि क्रमानुसार एक-एक जाति वाले स्वलक्षण एक-एक कारण के कार्य सुनिश्चित होते हैं। उन (-उन) सजातीय कारणों को ग्रहण करके उन (-उन) सजातीय पदार्थों की बौद्धों ने भी यही व्यवस्था स्वीकार की है। वे (बौद्ध) मानते हैं कि न तो मृत्तिका संस्थान, न ही कुम्भकार और न ही मृद्रूपता (घट) का वास्तविक कारण है। वास्तव में स्थिति भी ऐसी ही है कि जैसे संघातयुक्त घट नियत बुद्धिमान् पुरुष से नहीं बना है उसी प्रकार पट भी (नियत बुद्धिमान् पुरुष से नहीं बना है)। उसी तरह दोनों (घट व पट के) प्रसंगों में प्रतीति भी भिन्न-भिन्न है जो बुद्धिमान् कर्ता की प्रतीति के उपयोग के लिए होकर, इस प्रकार के व्यवसाय वाली प्रवृत्ति बन जाती है। केवल उन अन्य बौद्धों के मत में जैसे जाति के बिना ही सजातीयत्व अवश्य स्वीकार करना पड़ता है जो एक प्रत्ययकारी और स्वलक्षणनिष्ठ है उसी प्रकार यह भी कहा गया है—

जिस प्रकार के अधिष्ठातृभाव और उस (अधिष्ठातृभाव) के अभाव की अनुवृत्ति वाला (अर्थात् ऐसा होने पर ऐसा होगा, ऐसा न होने पर ऐसा नहीं होगा) उससे सम्बद्ध संनिवेश आदि सिद्ध होता है, उसी से उसका

अन्यथा कुम्भकारस्य मृद्विकारस्य कस्यचित् ।
घटादेः कारणात्सिद्ध्येद्वल्मीकस्यापि तत्कृतिः ॥'

(प्रमाणवार्त्तिकम्, १. १५)

इत्यादि तेषां पूर्वोक्तहेतुविभागकारिस्ववचनानुसंधानशून्यमभिधानम् । सामान्यानां गुणानां क्रियाणामन्येषामपि वा धर्माणामर्थक्रिया-कारिस्वलक्षणनिष्ठतयैव पृथक्कारणोपयोगस्य सिद्धेरनवद्यत्वादित्य-व्यभिचार्येव संनिवेशः स्त्रीपुंसादेरिव अन्योन्यसाध्यार्थक्रियानुगुण्या-दिविशेषितस्तन्वादेरीश्वरकर्तृतासाधन इति ॥ तदाह

एवं च हेतुः संस्थानमात्रमत्र विशेषितम् ।
तथा वैचित्र्यमात्रेण न स्वलक्षणलक्ष्मणा ॥ १२ ॥
परैस्तैरपि हेतूनां घटात्मप्रविवेचने ।
संस्थानमात्र एव···हेतुत्वं बुद्धिशालिनः ॥ १३ ॥

अनुमान किया जाता है। अन्यथा (ऐसा न मानने पर) मृत्तिका के विकाररूप किसी घटादि के कारण कुम्भकार से, वल्मीक की रचना का कारण भी वह (कुम्भकार) ही सिद्ध हो जाएगा।" इत्यादि। इस प्रकार उन (बौद्धों) का, पहले कहे गये कारण को विभाजित करनेवाला तथा अपने ही वचन के अनुसंधान से शून्य वक्तव्य है। सामान्यों, गुणों, क्रियाओं अथवा अन्य धर्मों के अर्थक्रिया करनेवाले स्वलक्षण में रहने से ही भिन्न-भिन्न कारण की उपयोगिता निर्दुष्ट सिद्ध होती है जिसके कारण यह संनिवेश स्त्री-पुरुष के संनिवेश की तरह अव्यभि-चारी है। यह संनिवेश एक दूसरे से सिद्ध होनेवाली अर्थक्रिया के अनुकूल गुणों की विशेषता वाला है। अतः शरीर आदि का कर्ता ईश्वर को सिद्ध करने वाला है। इसीको कहते हैं—

इस प्रकार यहाँ संस्थानमात्र के (बुद्धिमान्) हेतु को विशेषरूप से कहा गया है। वह (हेतु) केवल (कार्यों की) विचित्रता मात्र से स्पष्ट होता है, स्वलक्षण के चिह्न (परिचय या स्वरूप) से नहीं ॥ १२ ॥

हेतुओं के घटरूप विवेचन के प्रसंग में उन दूसरे मतों ने भी संस्थान मात्र में बुद्धिमान् की ही कारणता को स्वीकार किया है ॥ १३ ॥

अन्योन्यार्थक्रियायोग्यसंनिवेशविशेषितम् ।
तदिदं सकलं विश्वं युक्तमीश्वरनिर्मितम् ॥ १४ ॥ इति ॥

अत्र सांख्याः प्रत्यवतिष्ठन्ते । भवेदप्येतदेवं यदि किंचिदेकैकमेव कस्यचित् कारणं स्यात्, यावतानेकमेव तत्तदेककार्याभिव्यक्तिनिमित्ततां संततावविक्तदेशकालादियोगेन उपयाति । ततश्च ये ते सहभावमापन्नाः कार्यमाविर्भावयन्ति ते परस्परयोगे विचित्रवृत्तयो दृश्यन्ते । तथा हि बीजान्तर्गमनेन बीजभूता जलभूम्यादयो रसादिपरिणामात् दीर्घप्रचितसंनिवेशमङ्कुरं सहकारितया कुर्वन्ति । क्रियापि देशान्तराक्रमणलक्षणा न तद्देशपरिणामवद्रूपातिरिक्ता काचिदुपलभ्यते । तेन यथैकोपादानदेशे एव प्रतिक्षणं परिणामस्तथा देशान्तरस्थितरूपतया यदि स्यात् तत्को विरोधः । कूटस्थनित्यताभ्युपगमे भावानामेष दोषो न तु क्षणपरिणामनये । वायुवह्निप्रभृतीनामपि

यह समस्त जगत् परस्पर अर्थक्रिया के योग्य सन्निवेश विशेष वाला है । इसे ईश्वर के द्वारा निर्मित मानना ही उचित है ॥ १४ ॥

यहाँ सांख्यवादी उपस्थित होते हैं । (वे कहते हैं कि) ऐसा (उक्त सिद्धान्त उचित) हो सकता है यदि किसी (एक कार्य) का एक-एक ही कारण हो । किंतु एक-एक कार्य की अभिव्यक्ति के कारण अनेक हैं और वे भी सततरूप से अभिन्न देश, काल आदि के द्वारा कारण बनते हैं । जो सहकारी कारण बनकर कार्य को अभिव्यक्त करते हैं वे आपस में एक दूसरे से जुड़ते हुए विचित्र व्यवहार वाले दिखाई देते हैं । [अथवा तब विचित्र व्यवहार वाले जो सहकारी कारण कार्य को अभिव्यक्त करते हैं वे (विचित्र कार्य-व्यवहार वाले होते हुए भी कार्याभिव्यक्ति के प्रसंग में) एकदूसरे का सहयोग करते हुए दिखाई देते हैं] क्योंकि बीज के अन्दर जाकर बीजरूप बने जल, भूमि आदि परस्पर सहकारी बनते हुए रस आदि के परिणामस्वरूप लम्बे तथा विशाल सन्निवेश वाले अंकुर को उत्पन्न करते हैं । दूसरे देश में संक्रान्त होने वाली क्रिया भी, उस स्थान के परिणाम से जुड़ने के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में उपलब्ध नहीं होती है । अतः जिस प्रकार एक उपादान-देश में ही प्रतिक्षण परिणाम होता है उसी प्रकार दूसरे देश में स्थित होने से भी यदि हो तो क्या विरोध है । पदार्थों को कूटस्थ, नित्य मानने पर ही यह दोष आता है, प्रतिक्षण परिवर्तन मानने वाले मत (क्षण-

दिगन्तराक्रमणमनियमेन यथा भावे, तथा तथाविधसहकारिकारण-विशेषसाहित्यात् नियमेन । सजातीयतायोग्यकार्योत्थापनसमर्था अपि ते यदि स्युस्तन्न किंचिद्दुष्येत् । न च दृश्यमानार्थयोगितोपपन्नं वस्तु अदृष्टकल्पनाय अङ्गतामुपनयति, ईश्वरोपगमेऽप्यनवस्थाप्रसङ्गात् । अर्थानां स्वभाववैचित्र्यमभ्युपगमनीयं सर्ववादिभिः, येन बीजादेवाङ्कुरो मृद एव घटः, ततः सहकारिसामर्थ्यातिशयावेशितविशेषादेव देशान्तराक्रमणेन उपादान-विलक्षणसंस्थानतया उद्भवन्तो भावा न वाच्यताभाजः । यत्र पुनः सहकारिणो बहिः स्वदेशसंनिविष्टा एव कार्येषु उपज्युयन्ते यथा मृत्पिण्डचक्रादयः, तत्रोपादानसंनिवेशवैसादृश्ये स्यादवसरो बुद्धिमतः कुम्भकारस्येव, उपादानमात्रस्य हि देशान्तरगमनसमर्थावयवत्वे पूर्वमपि तथाभावः स्यात् । न पुनरत्र बुद्धिमदुपयोग-

---

भंगवाद) में नहीं । जैसे भाव पदार्थों के प्रसंग में वायु, अग्नि आदि भाव पदार्थों का दूसरी दिशा में आक्रमण नियम रहित (स्वतंत्रता अथवा सहजता-पूर्वक) है उसी प्रकार उस तरह के सहकारी कारण-विशेषों के सान्निध्य से (कार्योत्पत्ति) नियमपूर्वक होती है । यदि वे (सहकारी कारण) सजातीय गुणों वाले कार्य की अभिव्यक्ति में समर्थ हो भी जाएँ तो कोई दोष नहीं है । प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध वस्तु को अप्रत्यक्षज्ञान का विषय बनाना उचित नहीं है । ईश्वर को स्वीकार करने पर अनवस्था का प्रसंग (दोष) होगा । सभी (दर्शन) सम्प्रदाय मानते हैं कि पदार्थों के स्वभाव में विचित्रता (परस्पर भेद) है । क्योंकि इसी के फलस्वरूप बीज से ही अंकुर (उत्पन्न होता है) मिट्टी से ही घड़ा (बनता है) । इसके बाद सहकारी कारणों की अतिशय सामर्थ्य के वैशिष्ट्य के फलस्वरूप ही, दूसरे स्थान में संक्रान्त होकर, उपादान (कारण) से सर्वथा विलक्षण (भिन्न) संस्थान वाले भाव पदार्थ उद्भासित होते हैं जो कि व्यवहार के विषय नहीं होते हैं । जहाँ सहकारी कारण अपने स्थान में बाहर स्थित होते हुए ही कार्यों की उत्पत्ति में सहायक बनते हैं—जैसे मृत्पिंड, चक्र आदि, वहाँ उपादान कारण से भिन्न होने के कारण, बुद्धिमान् कुंभकार के लिए अवसर भले ही हो किंतु उपादान कारण के अवयवों के दूसरे स्थान में संक्रान्त होने की सामर्थ्य के कारण पहले भी (सहकारी कारण से पहले भी कार्योत्पत्ति) हो जाएगी । यहाँ पुनः बुद्धिमान् कर्ता को स्वीकार करने मात्र से सभी

मात्रेण सर्वत्र सहकारिणामियमेव व्यवस्था स्थापिता प्रामाणिकतां पुष्णाति ॥ तदाह—

अत्रोच्यते गतिश्चित्रा दृश्यते सहकारिणाम् ।
केचित्कथंचिदेवेयुरुपादानैः समागमम् ॥ १५ ॥

हेतुमन्तःप्रविश्यान्ये प्राप्योपादानरूपताम् ।
चित्रयन्ति हि कार्याणि भौमोदकरसा इव ॥ १६ ॥

अन्ये पुनरुपादाने बहिर्विपरिवर्तिनः ।
रूपवैचित्र्यप्रयोगाय कार्येषु न तथा क्षमाः ॥ १७ ॥

तत्र बुद्धिमतो नाम प्रसरो यदि कल्प्यते ।
न तावतैव सर्वत्र व्यवस्था घटते तथा ॥ १८ ॥ इति ॥

प्रसंगों में सहकारी कारणों की यही (उपर्युक्त) व्यवस्था रहेगी, प्रामाणिक रूप में ऐसा नहीं है । इसी को कहते हैं—

यहां (कार्यकारण भाव में) सहकारी कारणों की अलग-अलग भूमिका देखी जाती है । कुछ (दर्शन इन सहकारी कारणों का) जैसे-तैसे उपादान कारणों से समागम मानते हैं ॥ १५ ॥

दूसरे (दार्शनिक) मानते हैं कि सहकारी कारण (उपादान कारण के) अन्दर प्रवेश करके और उपादान के स्वरूप में एकाकार होकर (अथवा उपादानरूपता को प्राप्त करके) कार्यों को विचित्र बनाते हैं जैसे भूमि जल, रस (बीज में प्रविष्ट होकर तथा बीजरूप होकर तरह-तरह के अंकुरों को उत्पन्न करते हैं) ॥ १६ ॥

अन्य (दार्शनिक) मानते हैं कि सहकारी कारण उपादान कारण से बाहर ही परिवर्तन लाने वाले होते हैं । वे कार्यों में विचित्ररूपों को जोड़ने में उस प्रकार समर्थ नहीं होते ॥ १७ ॥

वहां (कार्यकारण भाव में कार्य को) यदि बुद्धिमान् का प्रसार समझा जाता है तो इतने मात्र से सब प्रसंगों में वैसी व्यवस्था घटित नहीं होती है ॥ १८ ॥

एवं कारणानामेकत्र कार्यात्मना व्याप्रियमाणानां प्रवृत्तिप्रकार-वैचित्र्ये व्यवस्थापिते, प्रस्तुततनुकरणादिसकलभागलक्षणकार्यकारि प्रधानसंज्ञं तावन्मूलकारणं प्रधानसिद्धौ समन्वयादिवोतोऽन्यासेन निर्बाधमेव साधितमेव--इति नेह तत्प्रमेयम्। न हि प्रधानसिद्धि-मात्रेणैव ईश्वरनिराकृतिः स्यात् उपादानकारणतया परमाणुस्थान एव प्रधानस्य मूलकारणत्वेन समर्थनात्। तच्च प्रधानेन परमाणुवाद एव यदि परं निराक्रियेत, ततः प्रधानव्यवस्था विश्वस्य उपादान-कारणविचारप्रस्तावे प्रमेयीभवति, न तु निमित्तकारणोपपादनप्रक्रमे। तदेवं मूलप्रकृतिः सत्त्वरजस्तमःसंज्ञगुणत्रयसाम्यात्मिका प्रकृतितयैव प्रसवधर्मिणी गुणानामेवाङ्गाङ्गिभावगमनेन यावन्महदादिविकारा-त्मना परिणमते तावत्पुरुषार्थत्वमेव तत्र तस्याः स्वभावभूतं निमित्तम्। न हि यदृच्छया वर्तमानायाः कार्यवर्गस्य देवमानुषतिर्यग्योनि-रूपस्य तदवान्तरजातिवैचित्र्यवतो नियमेन स्त्रीपुंससंस्थानद्वयस्य

इस प्रकार एक कार्य के रूप में समाविष्ट होनेवाले अनेक कारणों के व्यवहार की विचित्रता सिद्ध हो जाती है। तब यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रस्तुत शरीर, इन्द्रिय आदि समस्त विभागशील कार्यों का मूल कारण प्रधान नामक तत्त्व ही है और पूर्वोक्त (कार्य-कारण के परस्पर) समन्वय से प्रधान की सिद्धि तो हो ही जाती है। अतः यहाँ उसका विवेचन करना लक्ष्य नहीं है। प्रधान की सिद्धि मात्र से ही ईश्वर का निराकरण नहीं हो जाता क्योंकि उपादान कारण के रूप में परमाणु के स्थान पर ही प्रधान को मूल कारण माना गया है। और प्रधानकारणवाद के द्वारा परमाणुवाद का खण्डन किया जाता है तो विश्व के उपादान कारण के विचार-प्रसंग में प्रधान की व्यवस्था विचारणीय बनती है, न कि निमित्त कारण सिद्ध करने के प्रसंग में। तो इस प्रकार मूल प्रकृति सत्त्व, रज, तम नामक तीन गुणों की साम्यावस्था है। प्रकृति होने से ही वह प्रसव धर्मिणी है। गुणों के परस्पर परिवर्तनशील अंगाङ्गिभाव के कारण ही महत् आदि विकारों के रूप में परिणत होने वाली है। उस (परिणाम) का स्वाभाविक निमित्त कारण पुरुष के लिए (उस प्रकृति का) होना है। मूल प्रकृति का कार्यसमूह देवता, मनुष्य, पक्षी के शरीरों वाला, अपने अन्दर जातिगत विचित्रता को धारण करनेवाला अथवा नियमपूर्वक

वा अन्योन्यानुगुण्यमुपपद्यते । तदेतत्संनिवेशविशेषरूपतया अभ्युपेतमीश्वरवादिनापि । तदेनदप्येषां सप्रकृतिकानां व्यूहविभवभावेनावस्थितानामशेषविकाराणाम् इतरेतराङ्गाङ्गिभावगमनं लोकयात्रोपयोगितया तावत्संनिवेशविशेषफलं निरर्थकम् । यदुक्तं—

'न स्यात्क्रियाव्यूहविधिस्तथायं
याद‍ृच्छिका………।' इत्यादि ।

अर्थवत्त्वं च सुखदुःखोपलम्भसंपादनार्थतयैव सर्वस्यैव अर्थरूपस्य परम्परया पर्यवस्यति । सन्तोऽपि हि सविधमुपयान्तोऽर्थाः शशविषाणकल्पाः प्रकल्पन्ते । अतः संविदौत्सुक्येन तदर्थतयैव तद्भोग्यस्वभावा एव,——इति भोग्यादपि भोक्तुः संवित्स्वभावस्य आत्मतत्त्वस्य सिद्धेरनुपपन्नमेव प्रमाणम् । यद्यपि भावाश्चित्तभूमौ भासमानाः प्रत्यक्षेणापि संवित्तत्त्वमवभासमानमावेदयन्ति, तथापि तदर्थात्मोपरागकलुषमवभास्यमानं भोग्यभूतमविशुद्धं भोक्तृताभिन्नलक्षणं

स्त्री-पुरुष दोनों के भिन्न-भिन्न संस्थानों वाला है। इस कार्यसमूह में एक दूसरे से गुणों की समानता आकस्मिकरूप से अपने आप घटित नहीं हो सकती है। संनिवेश विशेष के रूप में यह मान्यता ईश्वरवादियों को भी स्वीकार है। एक व अनेकरूप से अवस्थित प्रकृति के इन समस्त विकारों का भी परस्पर अंगांगिभाव को प्राप्त होना, लोक-व्यवहार की उपयोगिता के लिए संनिवेश विशेष के फल के रूप में, निरर्थक है।

जैसा कि कहा गया है—

"यह क्रिया-व्यूह विधि इच्छानुसार नहीं होगी।" इत्यादि।

समस्त पदार्थों का प्रयोजन, सुख, दुःख, मोह सम्पादित करने के रूप में ही परम्परा से सिद्ध होता है। सन्त पुरुष भी निकट उपस्थित हुए पदार्थों को खरगोश के सींग की भाँति (मिथ्या अथवा काल्पनिक) ही कल्पित करते हैं। अतः (वे पदार्थ) संवित् की उत्सुकता के कारण उसी (संवित्) के लिए तथा उसी (संवित्) के द्वारा भोग्यस्वभाव वाले हैं—इस प्रकार भोग्य पदार्थों के द्वारा भी संवित्स्वभाव वाले आत्मतत्त्वरूप भोक्ता की सिद्धि होती है—अतः (अन्य) प्रमाण असिद्ध है (अनावश्यक है)। यद्यपि भावपदार्थ प्रत्यक्षरूप में चित्तभूमि में भासित होते हुए प्रकाशमान विमर्श को सिद्ध करते हैं फिर भी वह उसी (स्वयं) के लिए आत्मोपराग से कलुषित होने वाला, प्रकाशमान, भोग्यरूप, अविशुद्ध तथा भोक्ता

तत एव केवलमेकचिन्मात्ररूपसाक्षिमात्रमात्मतत्त्वमनुमीयते भोग्य-भोक्तृभावापरपर्यायस्वस्वामिसंबन्धवशात्, न तु साक्षात्कार्यतां तदुपयाति। तदुक्तम्——

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृ० आ० ४।५।१५) इति। तत्संनिधानमात्र एव च यतश्चित्तोपारोहिविषयाकारप्रकाशनं भवेत् अन्यथा जडात्मनः स्वशक्त्या तथाभावायोगात्। ततोऽतदर्थमपि वस्तुतः प्रकृतिपरिणामकर्म तदधीनं चित्रावभासनार्थत्वात्तदर्थमुपवर्ण्यते। परस्परार्थत्वे गुणपरिणामस्यैकतम एषां पर्यायेण चित्स्वभावः स्याच्चिदुपयोगपरिसमाप्तेः सर्वपरिणामानाम्। न चैतदत्यन्तभिन्नजातीयं चिदचिद्रूपमेकस्य घटते। तदेव कदाचिदुपकारकतायां जडम्, अजडस्य तु चिदात्मनः परोपकारक्रियापरिणामायोगात्,

से भिन्न (स्वभाव वाला) हो जाता है और इसी के माध्यम से केवलरूप, एकचिन्मात्ररूप और साक्षिमात्र (उस) आत्मतत्त्व का अनुमान किया जाता है। यह अनुमान भोक्तृभोग्यभाव के अन्य पर्याय स्वस्वामिसम्बन्ध के द्वारा ही होता है, न कि वह (संवित् तत्त्व) साक्षात् कार्य (भोग्य) के रूप को प्राप्त करता है। जैसा कि कहा गया है——

"जानने वाले को किस (उपाय अथवा प्रमाण) से जाना जाए।"

(बृ० आ० ४. ५. १५)

और उसकी निकटता मात्र से ही, चित्त में आरूढ होने वाले विषयों के आकार का प्रकाशन होता है अन्यथा अचेतन का, अपनी ही शक्ति से उस रूप में प्रादुर्भूत (प्रकाशित) होना असंभव है। प्रकृति का जो परिणाम-रूप कर्म उस (संवित् अथवा पुरुष) के लिए नहीं है वह (परिणाम) भी उस (संवित्) के ही अधीन है और उस (पुरुष) के विचित्र रूपों में प्रकाशित होने के कारण उस (पुरुष) के लिए ही (प्रकृति के उन परिणामों को) माना जाता है। गुणों का परिणाम, परस्पर एक दूसरे के लिए है ऐसा मानने पर उनमें से कोई एक ही क्रमशः चित्स्वभाव वाला होगा क्योंकि सभी परिणामों का अन्तिम लक्ष्य चेतन के द्वारा उपभोग है। किंतु चित्-अचित् के रूप में परस्पर अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला यह (जगत्) एक ही तत्त्व में सिद्ध नहीं हो सकता। वही कभी उपकारकता में जड बन जाता है क्योंकि चेतन चिदात्मा में परोपकाररूप क्रिया का परिणाम संभव नहीं है। अन्यत्र (कभी-कभी)

अन्यदा चोपकार्यतायामजडम्, न चैवमेकत्वं विरोधे सति उपपद्यते न चाप्युपकार्यता चिन्मात्रवपुषः क्रमते। तदङ्गभूतार्थोपकारसंस्पर्शेन चिद्रूपादाधिक्यप्रसङ्गाज्जडतापत्तिः। तदाधिक्यमेव हि जडत्वम्। तदेवं यावदङ्गाङ्गितोपकार्योपकारकभावेन तावज्जडतामुपेयुषी भोग्यभूमिरेव, पुरुषस्य तूपकार्योपचारस्तत्संनिधाने चित्तस्यार्थाकारवतः प्रकाशमानत्वात्। एवं च गुणानामभ्युपगमेन चिद्रूपतापत्तिप्रसङ्गेन गुणताहानेः। अत एवैषां स्वार्थता न युक्ता। तस्यैवैकस्य विरुद्धोभयभोक्तृभोग्यरूपतापत्तेरिति सर्वमेतत्प्रकृतिचलं गुणवृत्तमचलचित्तत्त्वसाक्षिकचित्तगतविषयसंवित्प्रयोजनमेव। यावांश्च विषयभेदः संवेदनक्षमस्तत्संवेदनं सर्वमेव पुरुषार्थसंज्ञं गुणपरिणामप्रवृत्तिनिमित्तं, विषयश्च संवेदनस्य सुसूक्ष्मादिभावावस्थिता गुणास्तथा

उपकार्यता में चेतन बन जाता है। और यह कहना उचित नहीं है कि (चेतन-अचेतन में) विरोध के कारण एकत्व सिद्ध नहीं होता है। न ही यह कहना उचित है कि चिन्मात्र शरीर वाले (प्रमाता) के स्वरूप को उसकी उपकार्यता (विकृत) समाप्त कर देती है। उसके अंगभूत पदार्थ के उपकाररूप संस्पर्श के कारण चिद्रूप के आधिक्य का प्रसंग है और जिस के कारण (उस चेतन को) जड़ मानने का प्रसंग उपस्थित होगा। क्योंकि उसका (उपकार का) आधिक्य ही जडता है। इस प्रकार अंगाङ्गिभाव अथवा उपकार्य-उपकारकभाव के द्वारा जड पदार्थ ही भोग्य का पात्र बनता है। पुरुष का उपकार्यभाव औपचारिक है क्योंकि इसी के सान्निध्य के फलस्वरूप चित्त अर्थाकाररूप में प्रकाशित होता है। इस प्रकार गुणों को (उक्त रूप में) स्वीकार करने से (उन गुणों की) चेतनता का प्रसंग उपस्थित होगा और गुणत्व की हानि होगी। अत एव इन (गुणों) को इन्हीं के लिए मानना उचित नहीं है। उस एक ही में परस्पर विरुद्ध भोक्ता और भोग्यरूप मानने से आपत्ति है। इसलिये यह समस्त गुण-समूह प्रकृति से चलायमान है और निश्चल चित् तत्त्व की साक्षी में, चित्तगत पदार्थसंवित् के प्रयोजन वाला है। विषय का भेद अपने अनुसार ज्ञान (के भेद को उत्पन्न करने में) समर्थ है तथा वह समस्त (भेदात्मक) ज्ञान पुरुषार्थ की संज्ञा वाला तथा गुणों के परिणामरूप प्रवृत्ति का कारण है। संवेदन के विषय, अत्यन्त सूक्ष्मभाव में अवस्थित गुण

गुणपुरुषान्तरमपि । ततो यथा सुखदुःखमोहमयपदार्थसंवेदनं पुरुषार्थस्तथा शास्त्रोपदिष्टानुमानोपमानादिना गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरपि । तदुभयमपि प्रयोजनं भोगापवर्गरूपगुणप्रवृत्तेः । तत्प्रयोजनसंपादनयोग्यस्वभावता च निमित्तकारणमुच्यते, न तु भाविप्रयोजनमनागतमेव निमित्ततां गच्छेत् । तत्र च विवेकज्ञानपर्यन्तपुरुषार्थप्रयोजने परिसमाप्ते प्रवृत्तिनिमित्तकारणाभावात् न गुणास्तमुद्दिश्य पुरुषार्थं प्रवर्तन्ते, इति कैवल्यं पुंस उच्यते नित्यकेवलस्यापि । इत्थमवस्थिते मृद्दण्डादेः स्वतो घटादिव्यक्त्यशक्तस्य सहकारी बुद्धिमान् कुम्भकारोऽस्तु, तन्त्वादेश्च तन्त्रवायस्तथा नामादृश्यः । न तावता शरीरादेरुत्पादसमये कश्चित्प्रसिद्धकारणातिरिक्तोऽपि कल्पनीयो भवति । मा भूदतिप्रसङ्गः,–इति दृष्टोपादानादिकारणसामर्थ्यविशेषादपि च उपपद्यते एव कार्याणां घटाङ्कुरादीनां रूपादिभेदः, तथा

तथा गुणों में प्रतिबिम्बित पुरुष की भी यही स्थिति है । इस तरह जैसे सुख, दुःख व मोह से युक्त अन्य पदार्थ (प्रकृति)-संवेदन को पुरुषार्थ कहा जाता है उसी प्रकार शास्त्रों में बताए गये अनुमान, उपमान आदि (प्रमाणों) के द्वारा अन्य गुणसम्पन्न पुरुष की भी उपलब्धि होती है । इस प्रकार ये दोनों ही प्रयोजन भोग-मोक्षरूप गुणों की प्रवृत्ति के फलस्वरूप होते हैं । और उस प्रयोजन को सम्पादित करने की स्वाभाविक क्षमता जिसमें है वही निमित्त कारण कहा जाता है, न कि अनागत भावी प्रयोजन निमित्त कारण बनता है । यहाँ (सांख्य में) पुरुषार्थ का प्रयोजन (प्रकृति-पुरुष के) विवेक ज्ञान तक है । इस प्रयोजन के समाप्त (पूर्ण) हो जाने पर, प्रवृत्ति के निमित्त कारण के न होने से, उस (सिद्ध,) पुरुषार्थ को लक्ष्य करके गुण प्रवर्तित नहीं होते हैं—इसलिये नित्य केवलरूप पुरुष का ही कैवल्य (मोक्ष) कहा जाता है । इस प्रकार (उक्त) सिद्धान्त स्थिर होने पर, मिट्टी, दण्ड आदि की सहायता से स्वयं ही अभिव्यक्त होने में असमर्थ घट आदि कार्य का सहकारी कारण जैसे बुद्धिमान् कुम्भकार है, तन्तु आदि का (सहकारी) कोई तन्त्रवाय है उसी प्रकार अदृश्य (ईश्वर जगत्स्रष्टा) है । शरीर आदि की उत्पत्ति के प्रसंग में, किसी प्रसिद्ध कारण के अलावा अन्य कोई (अप्रसिद्ध निमित्त कारण) कल्पित नहीं किया जा सकता । अति प्रसंग न हो इसलिये, (संक्षेप में मुख्य आपत्ति कहते हैं कि) प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले उपादान आदि कारण

संस्थानविशेषप्रथापि तत्सामर्थ्यादेव स्यात् को दोषः किमर्थमदृष्टकल्पनम्। यावता हि रूपेण संनिवेशेन वा पुरुषार्थोऽवस्थितिं लभते, तत्र तावति गुणस्वभाव एव निमित्तं तथैवोपपत्तेः। तत्स्वभावानुग्रहादेव च शरीरविषयेन्द्रियादिकचेतःपूर्वापरभूमिकावस्थायिनि कार्यवर्गे धर्मादिकर्मापि निमित्तकारणतया प्रभवेत्। अतः परं परिकल्पयन्नीतिमार्गातिगोऽवधीरणीय एव स्यादपि। एतावन्मात्रमष्टगुणं चित्तवर्ति धर्मादिवदैश्वर्यं कदाचिदभिव्यक्तं यद्गुणानामेव सहभावि भवद्योगिताव्यपदेशमावहेत्। यत्तु ततोऽधिकं नित्यं कस्यचित्पुरुषविशेषस्य तनुकरणभुवनादिविधौ सर्गस्थितिप्रलयेषु च कारणतामुपेयात् तत्प्रकृतिस्वभावसद्भावमनतिरिक्तमनेकवैचित्र्योपकल्प्यमानपुरुषार्थप्रयोजनमनादृत्य पृथग्भूतमाश्रीयमाणं भक्तिमात्रसाधनमेव॥ तदाह

की सामर्थ्य विशेष से भी घट, अंकुर आदि कार्यों के आकार आदि का भेद सिद्ध हो ही जाता है और उसी प्रकार उसकी सामर्थ्य के फलस्वरूप ही संस्थान विशेष की सिद्धि भी मानी जाए–इसमें क्या दोष है, फिर अदृष्ट निमित्त कारण अथवा ईश्वर) की कल्पना क्यों की जाए। अथवा (कहना चाहिये कि) जितने रूप वाले सन्निवेश से पुरुषार्थ स्थिति को प्राप्त करता है वहाँ उतने में गुणों का स्वभाव ही निमित्त कारण बनता है, क्योंकि उसी प्रकार की सिद्धि होती है। उन (गुणों) के स्वभाव के अनुग्रह के कारण ही शरीर, विषय, इन्द्रिय आदि रूप वाले चित्त की पूर्व-अपर भूमिका में अवस्थित कार्यवर्ग में धर्म आदि कर्म भी निमित्त कारण बन जाएँगे इससे (गुणमात्र से) अधिक की कल्पना करने वाला नीतिमार्ग का अतिक्रमण करता है और तिरस्कार के योग्य ही है। चित्त में रहने वाले आठ गुणों में धर्म आदि की तरह ऐश्वर्य भी गुणों का सहभागी होते हुए कभी धर्मी (गुण सम्बन्ध से गुणी या योगी) पद को प्राप्त कर लेगा। और जो (योगदर्शन) शरीर, इन्द्रिय, लोक आदि में तथा सर्ग, स्थिति व प्रलय में, इन (अष्ट गुणादि) से परे किसी नित्य पुरुषविशेष की कारणता को मानता है वह उस (प्रकृति) के अभिन्न स्वभाव और अनेक विविधताओं के कारण कल्पित पुरुषार्थरूप प्रयोजनों का तिरस्कार करके भिन्न मत का आश्रय लेकर उपचार मात्र का निर्वाह करता है। इसी को कहते हैं—

अस्ति चास्य प्रधानस्य प्रसिद्धस्यान्वयादिना ।
स्वार्थतादिनिषेधेन साधिता पुरुषार्थता ॥ १९ ॥
तेनास्य भोगसंसिद्धिः पुरुषस्य यथा यथा ।
तथा तथा परिणतिः स्यान्न किंचन दुर्घटम् ॥ २० ॥
अत एव प्रधानस्य महत्त्वपरिणामिनः ।
निमित्तकारणं नान्यत्पुरुषार्थोद्यमादृते ॥ २१ ॥
स्वभाव एव चैषोऽस्य मूलहेतोस्तथेक्षणात् ।
चित्तभूमेरधरतः शरीरादिविधिं प्रति ॥ २२ ॥
निमित्तकारणं कर्म स्यादप्याद्यस्वभावतः ।
ततोऽत्र कुत्र व्यापार ईश्वरस्योपकल्प्यताम् ॥ २३ ॥
चेतस्यष्टगुणे जातु जातादैश्वर्यताऽधिकः । इति ॥

इस प्रसिद्ध प्रधान की अन्वय आदि से और स्वार्थता आदि के निषेध से पुरुष के लिये प्रयोजनवत्ता सिद्ध है ॥ १९ ॥

इसलिये जैसे-जैसे इस पुरुष के भोगों की सिद्धि पूरी होती जाती है वैसे-वैसे (विकृतियों की) परिणति होती जाती है—इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जो दुर्घट हो अर्थात् यह सब स्वाभाविक रूप से होता रहता है॥२०॥

अतः महत् आदि के रूप में परिणत होने वाली प्रकृति का निमित्तकारण पुरुषार्थ के उद्यम के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है ॥ २१ ॥

इस मूल कारण (प्रकृति) का यह स्वभाव ही है कि वह चित्त भूमि (अन्तःकरण आदि) के बाद नीचे ही नीचे क्रमशः शरीर आदि के रूप में परिणत होती रहता है क्योंकि (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से) ऐसा (उसका स्वभाव) दिखाई देता है ॥ २२ ॥

प्रकृति का प्राथमिक स्वभाव परिणाम है । अतः इस (स्वभाव) से ही निमित्त कारण का कार्य संपन्न हो जाएगा । अतः इस (कार्याभिव्यक्ति) में ईश्वर के कर्तृत्व की कल्पना का अवसर (ही) कहाँ है ? ॥ २३ ॥

चित्त के (धर्मादि) आठ गुणों में परिगणित ऐश्वर्य को (निमित्त कारण) मानने से आधिक्य होगा ॥ २४ अ ॥

उक्तनीत्या च चिन्मात्रस्य अधिकविशेषानुपपत्तेः। तथा हि जडतापत्तेरैश्वर्याभावात् धर्मादिवच्चित्तभूमिभागिनोऽस्येश्वरस्य कथमिवाभिव्यक्तचित्तावस्थे मूलकारणे महदादिकार्यपरिणामाय निमित्तकारणत्वमुपकल्प्येत। तदत्र पूर्वत्र परिणामे चेत्पुरुषार्थोचितोत्तरोत्तरविकारकारिणि निमित्तकारणं पुरुषार्थतास्वभावः प्रकृतेस्तत्सकलविशेषपर्यन्तेऽपि विकारराशौ स एवास्तु किमर्धजरतीयन्यायाभिनिवेशेन ॥ तदाह

नन्वस्य मूलप्रकृतावन्तःकरणचारिणः ॥ २४ ॥
ईश्वरस्योपकल्प्येत परिणामनिमित्तता। इति ॥

एवं चात्र प्रयोगः--प्रधानं महदादिपरिणामे निमित्तान्तरानपेक्षं पुरुषार्थोपयोगितया भूतविकारपरिणामैकस्वभावत्वात्। यद्यथा परि-

---

और उक्त नियम के अनुसार चिन्मात्र (चेतन) में (न्यूनता व) आधिक्य की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि तब (अर्थात् चेतन में न्यूनाधिक्य मानने में) उसमें जड़ता का प्रसंग उपस्थित होगा और इसके फलस्वरूप (वैसा) ऐश्वर्य नहीं माना जा सकेगा (जैसा ईश्वरवादी सिद्ध करना चाहते हैं)। धर्म आदि की तरह ईश्वर भी चित्तभूमि में रहेगा और इस तरह के ईश्वर को, मूल कारण की अभिव्यक्ति वाली चित्तावस्था में महत् आदि कार्यों की उत्पत्ति के लिये कैसे निमित्तकारण माना जा सकता है? (अर्थात् नहीं माना जा सकता। इस तर्क पर आपत्ति है कि) प्रकृति के पुरुषार्थोपयोगी उत्तरोत्तर विकाररूप परिणाम में यदि प्रकृति का पुरुषार्थतास्वभाव निमित्तकारण है—क्योंकि वह परिणाम के पूर्व विद्यमान है—तब (नित्य होने के कारण) उसे समस्त विकारसमूह के उत्पन्न होने के बाद अन्त में भी विद्यमान रहना चाहिये। (विकारोत्पत्ति से पहले उसे मानना तथा बाद में न मानना) आधे शरीर को वृद्ध मानने के नियम की तरह है जिससे कोई लाभ नहीं है।

मूल प्रकृति के अन्तःकरण में विचरण करने वाले इस ऐश्वर्यवान् (ईश्वर) की परिणाम में निमित्त कारणता की कल्पना की जाए ॥ २४ ॥

इस प्रकार का प्रयोग (भी इस प्रसंग में) है—महत् आदि परिणामों (को उत्पन्न करने) में प्रधान अन्य निमित्त कारण की अपेक्षा नहीं रखता है क्योंकि वहाँ पुरुषार्थ की उपयोगिता (ही निमित्त कारण) है तथा भौतिक विकाररूप परिणामों को उत्पन्न करना ही प्रधान का एकमात्र

णामैकस्वभावं तत्त्र परिणामेऽन्यनिमित्तानपेक्षं ततः स्वभावादेव तथा भवति यथा बीजादिकारणकलापोऽङ्कुरपरिणामे। यच्चान्यानपेक्षं न तथा भवति न तत्त्र तथास्वभावं यथा शालिबीजं यवाङ्कुरे जलादिरहितं वा बीजम्। तथा च प्रधानं पुरुषार्थोपयोगिमहदादिविकारपरिणामैकस्वभावं न तु शालिबीजं यवाङ्कुर इव। तस्मादन्येश्वरादिनिमित्तकारणानपेक्षं स्वभावादेव महदादिपरिणामवत्प्रधानमिति। अत्र प्रधानं तावत्समन्वयादिहेतुभिः सिद्धमेव। स्वार्थतादिनिषेधेन च पुरुषार्थस्वभावत्वमस्योपपादितम्। दृष्टान्तस्यापि बीजादिकारणकलापस्य न च परं प्रति संदिग्धसाध्यत्वे पक्षकृतत्वमेव। सा च तदङ्कुरकरणस्वभावैव,—इति न तं प्रत्यपि तस्यास्तावत्यास्तथा स्वकार्यकरणेनानन्यापेक्षस्वभावत्वं संदिग्धमिति॥ तदाह—

यद्यथा परिणामैकस्वभावं तत्र तत्ततः॥ २५॥

स्वभाव है। जो जैसे परिणाम के स्वभाव वाला होता है वह वहाँ वैसे परिणाम में अन्य निमित्त कारण की अपेक्षा नहीं रखता है, क्योंकि वह स्वभाव से ही वैसा (वैसे परिणाम वाला) होता है जैसे कि अंकुर के परिणाम में बीज आदि का कारण-समूह। जो दूसरे की अपेक्षा वाला नहीं होता है वह वैसे स्वभाव वाला नहीं होता है जैसे जौ के अंकुरण में (चावल का) शालिबीज अथवा जल के बिना (कोई) बीज। उसी प्रकार पुरुषार्थ के लिए उपयोगी महत् आदि विकाररूप परिणाम के एकमात्र स्वभाववाला प्रधान है, न कि यवांकुर में शालिबीज की तरह है। इसलिये प्रधान, ईश्वर आदि अन्य निमित्त कारण की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही महत् आदि कार्यों को उत्पन्न करता है। यहाँ प्रधान की सिद्धि तो समन्वय आदि हेतुओं से सिद्ध ही है। स्वार्थता आदि के निषेध से इसका पुरुषार्थ स्वभावत्व भी सिद्ध ही है। बीजादि कारण समूह का जो दृष्टान्त दिया गया वह स्वपक्ष में उचित ही है क्योंकि दूसरे पक्ष के लिए भी वह संदिग्धसाध्य वाला नहीं है। वह (प्रकृति) उस (बीज) से अंकुर उत्पन्न करने के स्वभाव वाली ही है। इसलिये उस प्रकार की कार्योत्पत्ति में उस प्रकार की (प्रकृति की) स्वतंत्रस्वभावता संदिग्ध नहीं है। इसीको कहते हैं—

जो जिस प्रकार के एकमात्र परिणाम के स्वभाववाला होता है वह

अनन्यापेक्षि बीजादिसामग्री यद्वदङ्कुरे ।
महदादिविकारौघपरिणामस्वभावकम् ॥ २६ ॥
त्रिगुणात्म प्रधानं च तेन सांख्यमनीश्वरम् । इति ॥

तत्रैतान्सांख्यान्प्रत्युच्यते—यथा नावगतो भवद्भिः साधनार्थ इति । यदि हि सर्वविचित्रसंस्थानकार्योत्पादनेषु प्रधानस्यैव या पुरुषभोगार्थता सैव निमित्तकारणं किमीश्वरेणेति उच्यते तत्कुम्भकारेणापि किं घटकरणे । तत्रापि प्राधानिकस्य मृत्पिण्डादेः पुरुषार्थस्वभावतावशादेव तथाभूतसंनिवेशवद्घटकरणसामर्थ्यं स्यात् । नहि पृथुबुध्नोदराकारसंनिवेशं विना भोक्तुरुदकाहरणलभ्यो भोगः सिद्ध्येत् । तृणवार्याद्यर्थिनां वा कर्मभिरेव ? तदाकारवत्ता घटस्य भवेत् किं तत्र कुलालेन । अथ प्रधानस्यायमपि स्वभावविशेष एव, यद्घटसंनिवेशादौ दण्डचक्रवद्बुद्धिमदपेक्षा, तावता प्राधानिकेन कारणकलापेन पुरुषार्थोपयोगितत्संनिवेशवद्घटवस्तुसिद्धेः । तदेवमेव

वहाँ, अंकुर में बीजादि सामग्री की तरह, अन्य की अपेक्षा नहीं करता है । प्रधान त्रिगुणात्मक है तथा महत् आदि विकार समूह के परिणाम के स्वभाव वाला है । अतः सांख्य (दर्शन) अनीश्वरवादी है ।।२५ ब–२७ अ।।

वहाँ सांख्य दार्शनिकों के प्रति कहा जाता है—आपने साधनार्थ को अच्छी तरह नहीं समझा । समस्त विचित्र संस्थान वाले कार्यों के उत्पादन में प्रधान की ही जो पुरुष भोगार्थता है यदि वही निमित्त कारण है तो फिर ईश्वर से क्या लाभ ? यहाँ इसी तरह प्रश्न उठता है कि घटनिर्माण में कुम्भकार से क्या लाभ है ? वहाँ (घट-निर्माण में भी) प्रधानकृत मृत्तिका के पिंड आदि की, मात्र पुरुषार्थ-स्वभावता के कारण, उस प्रकार के संनिवेश वाले घट की उत्पत्ति में सामर्थ्य होनी चाहिये । विशाल गले, पेट व आकार के (घट) संनिवेश के बिना जल लाकर प्राप्त किया जाने वाला भोक्ता का भोग सिद्ध नहीं होता है । अथवा यदि तिनके, जल आदि से अथवा अभ्यर्थी के कर्मों से ही घट का उस प्रकार का आकार हो जाए तब फिर कुम्भकार से क्या प्रयोजन और यदि प्रधान का यही स्वभाव विशेष है कि उसे घट संनिवेश में दण्ड, चक्र (आदि) की तरह बुद्धिमान् कर्ता की अपेक्षा है क्योंकि तब प्रधान कारण समूह के द्वारा, पुरुषार्थ के लिये उपयोगी घट वस्तु की सिद्धि हो जाती है । यदि ऐसा है तो

तनुकरणादिकारणस्यापि प्राधानिकात्तथास्वभावयोगात् कथं तथाकरणयोग्यबुद्धिमदपेक्षा नेष्यते। एष हि तावन्न्यायोऽस्ति यदेकत्रैकदा धूमाग्न्योः संबन्धेऽवगतेऽन्यदा अन्यत्र अन्ययोरेव धूमाग्न्योस्तथैव संबन्धोऽवश्यंभावी, येन धूमान्तराददृष्टोऽपि अग्निर्निश्चीयते। तदनेनैव न्यायेनैकत्र संनिवेशविशेषे बुद्धिमत्संबन्धप्रतीत्या सर्वत्रैव तथा संनिवेशस्य बुद्धिमदविनाभावसिद्धेर्देहादिसंनिवेशादप्यदृष्टस्य तादृशो बुद्धिमतः कथं नानुमितिः॥ तदाह—

पुरुषार्थस्वभावत्वं समस्तार्थक्रियासु चेत्॥ २७॥
निमित्तकारणत्वेन प्रधानस्योपकल्प्यते।
तद्विना कुम्भकारेण घटोऽपि न भवेत्कथम्॥ २८॥
प्रधानमयमृत्पिण्डादेव तादृक्स्वभावतः।
अथ स्वभाव एषोऽस्य यत्कुलालाद्यपेक्षणम्॥ २९॥

शरीर, इन्द्रिय आदि के कारणों के रूप में भी बुद्धिमान् कर्ता को क्यों नहीं माना जाता क्योंकि वही प्रमुख है, ऐसा उसका स्वभाव है तथा ऐसी ही योग्यता भी उसमें है। यही तो नियम है कि एक ही स्थान पर एक वार धूम-अग्नि का सम्बन्ध जान लेने पर दूसरे समय में दूसरी जगह दूसरे ही धूम व अग्नि का उसी प्रकार का सम्बन्ध होना अवश्यम्भावी है जिससे कि दूसरा धूम देखने से न देखी गई अग्नि का भी निश्चय हो जाता है। अतः इसी नियम के अनुसार एक स्थान पर संनिवेश विशेष में बुद्धिमान् (निमित्त कारण) की प्रतीति से सब स्थानों पर, उस प्रकार के संनिवेश से सम्बद्ध बुद्धिमान् (निमित्त कारण) की अविनाभावरूप सिद्धि हो जाती है। अतः शरीर आदि के संनिवेश से भी उस प्रकार के अदृष्ट बुद्धिमान् कर्ता का अनुमान क्यों नहीं होगा अर्थात् अवश्य होगा। इसीको कहते हैं—

समस्त कार्यों (पदार्थों) की अर्थक्रिया (कार्यकारणभाव) में प्रधान के पुरुषार्थ स्वभाव को निमित्तकारण के रूप में यदि कल्पित किया जाता है तो उस प्रकार (पुरुषार्थ) के स्वभाव वाले प्रधानमय मृत्पिण्ड से ही, बिना कुम्भकार के घट भी क्यों नहीं बन जाता?॥ २७ ब–२९ अ॥

यदि इस (मृत्तिका) का स्वभाव ही है कि वह घटरूप में परिणत होने के लिये कुलाल आदि की अपेक्षा रखे तब उसी प्रकार शरीर आदि के

तथेश्वरव्यपेक्षास्तु देहहेतोः स्वभावतः। इति ॥

न चापि सहकारिणामुपादानकारणस्यान्तःप्रवेशमात्रादुपयोगविशेषानुसन्धानवतः कस्यचिदव्यापारेऽपि विचित्रा पुरुषार्थोपयोगिनी रचना उपकल्प्यते। तथाहि यावदिदमितो भवति किंचिदधिकविशेषात्पुनरत एवानेन विशेषेण सविशेषमिदमेव भवति, अपरविशेषयुक्तात्पुनरस्मादेव अन्यजातीयमेव कार्यं जायते, ततः संप्रति एवंविधमुपयुज्यते तथैवकरोमीत्येवं विचारचतुरा मतिर्न स्यात्, तावत्कथं तथाभूतविशेषकरणाय हानोपादाने स्याताम्। तथाविज्ञत्वे च सर्वदा तथाभूतकार्यसंभवो न भवति, तस्य प्रज्ञावतः सर्वदा तत्करणेच्छाया अभावात्, ततः सापि तस्यापेक्षणीया, इच्छानुसंधानशून्येन तु जलभूम्यादिरसेन उपादानान्तःप्रविष्टेनापि

कारण को भी स्वाभाविकरूप से ईश्वर की अपेक्षा है—ऐसा माना जाए ।। २९ ब — ३० अ ।।

सहकारी कारणों के उपादान कारण के अन्दर प्रवेश करने मात्र से, उपयोग विशेष का अनुसंधान करने वाले किसी (बुद्धिमान्) पुरुष (निमित्त कारण) के प्रयास के बिना पुरुषार्थोपयोगी विचित्र (कार्यों) की रचना संभव नहीं है। क्योंकि तब इस प्रकार का विचार करने वाला कोई तत्त्व ही नहीं होगा कि यह (कार्य) इस (कारण) से उत्पन्न होता है, कुछ अधिक का वैशिष्ट्य जोड़ने से इस विशेष से यह सविशेष होता है, अन्य विशेष के योग वाले इस अन्य से इस अन्य जाति वाले कार्य की उत्पत्ति होती है, उस (कारण) से अब ऐसी वस्तु (कार्य) का उत्पन्न होना ठीक है, वैसा ही मैं करूँ आदि। इस बुद्धि के अभाव में उस प्रकार के कार्य विशेष को उत्पन्न करने के लिए हान-उपादान की बुद्धि भी कैसे होगी ! उस प्रकार (हानोपादान आदि) की बुद्धि न होने पर हमेशा उस प्रकार के कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि वह बुद्धिमान् हमेशा उस प्रकार के कार्य को उत्पन्न की इच्छा नहीं करेगा। अतः कार्य करने की इच्छा को भी कुम्भकार अथवा ईश्वर की अपेक्षा रहती है। इच्छा के अनुसंधान से शून्य, जल, भूमि आदि के रस के उपादान कारण में प्रविष्ट होने पर स्थूलरूप वाला कार्य (उत्पन्न) होगा तथा उसमें विचित्रता नहीं रहेगी। (अनुसंधाता के बिना) उस (कार्य) के अवयव-संस्थान में दोष होगा और उसमें उपयोग के विभाजनरूप प्रयोजन की पूर्ति की क्षमता भी नहीं होगी।

कार्यस्य स्थूलतामात्रमविचित्रमेव स्यात्, न तूपयोगविभागप्रयोजिता अवयवसंस्थानभङ्ग्यः । विलक्षणा दृश्यन्ते एताः सर्वास्तथा । न चाप्येता एकान्तविलक्षणा एव, यावदेकार्थक्रियोपयोगिन्यः, सजातीया अपि प्राज्ञकृततत्तत्सहकारिसंयोजनवियोजनवशादुपलक्ष्यन्ते । बुद्धिशून्यसहकारिमात्रसामर्थ्ये संशयरूपता केवलं कार्यस्योचिता; काकतालीयोऽवयवविभाग एकत्रैव सा··· ····· ···दन्यत्रान्यादृशतैव भवेत् । यत्पुनरनुगामित्वमवश्यमुपयोगविशेषानुगामितानुविधायि सर्वकार्येषूपलभ्यते, तत्तथा नियमेन न स्यात् । तस्मान्मृत्पिण्डायातघटशरावोदश्वनेष्टकादिसंनिवेशविभागकारो प्रयोजनभेदानुसारितया दृश्यते बुद्धिमत इच्छादिव्यापारः प्रज्ञाविशेषमयो न तु जडविजातीयतामात्रतया सहकारित्वेन । तथा सति हि स कुम्भकारसम्बन्धाद्धट एव वा स्यात् शराव एव वा, न तु कुण्डमपीष्टकाद्यपि वा । ततो यथाभूतमिच्छति जानाति च कर्तुं तादृगेवात्र

किंतु वास्तव में ये सारे कार्य परस्पर विलक्षण (विचित्र) हैं। ये सभी (कार्य) केवल परस्पर विलक्षण मात्र ही नहीं अपि तु एकार्थक्रियोपयोगी भी हैं। सजातीय (दिखाई देने वाले कार्य भी), उन-उन सहकारी कारणों के, बुद्धिमान् कर्ता द्वारा, परस्पर संयोजन-वियोजन के फलस्वरूप दिखाई देते हैं। (कार्योत्पत्ति में) बुद्धिहीन सहकारी कारण मात्र की सामर्थ्य मानने से कार्य संशयरूप ही रह पाएगा अथवा काकतालीय न्याय से अवयव विभाग होगा ?······। यह (संशयरूपता) एक जगह (एक प्रकार की) तथा दूसरी जगह दूसरे प्रकार की होगी। (पूर्वपक्ष का मत मानने से) समस्त कार्यों में उपयोग विशेष की अनुगामिता को संपादित करने वाला जो अनुगामित्व आवश्यकरूप से उपलब्ध होता है वह फिर नियमपूर्वक उपलब्ध नहीं होगा। इसलिये मृत्पिण्ड से प्रादुर्भूत घट, शराव, डोल, ईंट आदि संनिवेश का प्रयोजन-भेद के अनुसार भेद करने वाला विवेकपूर्ण इच्छादि व्यवहार बुद्धिमान् कर्ता का ही दिखाई देता है, न कि विजातीय क्षमता वाले अचेतन सहकारी कारण से यह संभव है। वैसा मानने पर वह (कार्य व्यापार) कुम्भकार के सम्बन्ध से (उसकी इच्छानुसार) घट बने अथवा शराव, कुन्ड न बने अथवा ईंट आदि अन्य बने। तब निष्कर्ष यही निकलता है (अथवा यही सिद्धान्त स्थिर होता है) कि वह (बुद्धिमान् कर्ता) जब जैसा करना चाहता है और जानता है उसी प्रकार (स्वतंत्र इच्छा, ज्ञान के अनुसार

कार्यविशेषोद्गमः। अत एव सन्निवेशस्य विशेषः पुरुषार्थोपयोगित्वे-नार्थनीयत्वात् न तु पृथुबुध्नोदराकारत्वादि, येन 'सिद्धं यादृगधिष्ठातृभाव .....' इत्यादि चोद्येत। इच्छया सह संनिवेशस्यापि हि पुनर्हस्ताद्यपेक्षयानवस्थानात्। ततश्च तनुकरणभुवनानामन्योन्यानुगुण्यविद एकस्यैव कर्तुस्तथेच्छामात्रसंनिवेशविशेषत्त्वम्। रथादौ तक्ष्णो यद्यप्ययःसंनिवेशविज्ञतापि स्यात् तथापि तस्य हस्तादिव्यापारानभ्यासादयोयोजनेऽयस्कार एव कर्ता। भिन्नदेशकालगतविवर्तितत्वाद्यनुसंधानवतस्तु संहतेच्छामात्रात्कार्यस्य सिद्धौ न सिद्धा विश्वभागे कर्त्रन्तरापेक्षा, अयस्कार इव हस्ताभ्यासानपेक्षणादित्येक एव तन्वादिविश्वकर्ता पुरुषार्थोपयोगित्वेन। तच्चार्थिसार्थे-

---

क्रियापूर्वक) कार्य विशेष का प्रादुर्भाव होता है। इसलिये संनिवेश विशेष की आवश्यकता पुरुषार्थ की उपयोगिता की दृष्टि से है न कि (घट के) विशाल गले, पेट, आकार आदि की दृष्टि से। इसीलिये कहा गया है—'जिस प्रकार का अधिष्ठातृभाव सिद्ध होता है...।' इत्यादि। (आपत्ति—कर्ता में) सन्निवेशविशेष की इच्छा होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसमें हस्त आदि इन्द्रियों की भी अपेक्षा होगी (इसी प्रकार अन्य कार्यों में अन्य इन्द्रियों व उपकरणों की आवश्यकता होगी) जिससे अनवस्था दोष आएगा। इसके साथ ही परस्पर विभिन्न शरीर, इन्द्रिय, लोक (आदि) के अनुकूल गुणों को जानने वाले उस एक कर्ता की इच्छामात्र से संनिवेश विशेष की रचना होना चाहिये। रथ आदि (के निर्माण) में यद्यपि बढ़ई को लौहसन्निवेश का ज्ञान होता है फिर भी लोहे के संयोजन में (उस बढ़ई के) हाथ आदि की क्रिया का अभ्यास न होने से लोहा जोड़ने में लोहार को ही कर्ता माना जाता है। भिन्न-भिन्न देश व काल में (कार्य का रूप) परिवर्तित होने पर भी अनुसन्धाता एक ही रहता है जिसकी सन्निवेश की इच्छा मात्र से कार्य की सिद्धि हो जाती है। अतः विश्व के प्रादुर्भाव में उस एक अनुसन्धाता को अन्य किसी कर्ता (कारण) की अपेक्षा उसी प्रकार नहीं होती है जिस प्रकार लौहकार को हस्तादि का अभ्यास पूर्वतः होने से अन्य (सुथार आदि) की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला शरीर आदि का कर्ता एक ही है। (आपत्ति—) उन अनेक

र्थनीयत्वं, न घटमात्राश्रयेण कुण्डपटशकटादिगतत्वेन प्राज्ञशक्त-कर्तृकतया च तादृश एवानुमिताधिकृतो न तु घटकुम्भकारमात्रदर्शी, यथा तार्णपार्णचान्दनाद्यनेकाग्निधूमगतप्रत्यक्षानुपलम्भप्रवृत्तिमानग्नि-मात्रानुमाने । अनेकविशेषदर्शने हि सामान्यनिष्ठकार्यकारणभाव-प्रतिष्ठायां विशेषव्यभिचारः सिद्धयति; एकविशेषव्यभिचाराच्च सर्वविशेषव्यभिचारनिश्चयेन अत्यन्तादृष्टपूर्वशांशपादिविशेषानिराक-रणात् न सर्वविशेषदर्शनमुपयुज्यते । एवमिहापि संनिवेशविशेष-मात्रस्य तथाभूतचिकीर्षायाश्च अनेकसंनिवेशदर्शनात् सामान्येन कार्य-कारणतासिद्धौ कुलालानीश्वरादिविशेषव्यभिचारनिश्चयेऽत्यन्तादृष्ट-तनुकरणादिचिकीर्षाविशेषानिराकरणेन संनिवेशविशेषात् तथा चिकी-र्षामात्रानुमानम्; इच्छाकार्येषु अनङ्गभूतेऽप्यनीश्वरत्वे सहदर्शन-

---

कार्यों को करने की इच्छा भी अनेक कर्ताओं में होनी चाहिये। (उत्तर) एक ही बुद्धिमान् व समर्थ कर्ता से कुण्ड, वस्त्र, शकट आदि का निर्माण हो सकता है व इन्हीं कुण्डादि से उसके कर्तृत्व का अनुमान होता है। एक कुम्भकार घटमात्र का निर्माता ही नहीं होता है। जैसे तृण, पर्ण, चन्दन आदि की विविध अग्नि का भिन्न-भिन्न धूम के प्रत्यक्ष के कारण सामान्य अग्नि के रूप में अनुमान होता है। अनेक विशेषों को देखने (मानने) पर, सामान्य में रहने वाले कार्यकारण भाव के नियम का विशेष के साथ व्यभिचार सिद्ध होता है किंतु एक विशेष के व्यभिचार से सभी विशेषों के व्यभिचार का निश्चय मानने से पहले कभी न देखे गये शांशप आदि विशेष का निराकरण नहीं होता अर्थात् सामान्यवृक्ष के ज्ञान से उसका भी अनुमान हो जाता है। अतः सभी विशेषों को देखने की बात उपयुक्त नहीं है। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में भी सन्निवेश विशेष और उस प्रकार की कार्येच्छा को अनेक सन्निवेशों में देखने से सामान्यरूप से यह ज्ञान हो गया है कि इच्छा-सन्निवेश में परस्पर कार्यकारण भाव है। अनीश्वर कुलाल आदि विशेष में व्यभिचार नहीं है यह भी निश्चय हो गया तब शरीर आदि सन्निवेशों के कर्ता के अत्यन्त अदृश्य होने पर भी यह अनुमान हो सकता है कि शरीर आदि का इच्छावान् कोई है क्योंकि शरीर आदि भी घटादि की तरह सन्निवेश ही हैं। जो कार्य इच्छानुसार उत्पन्न होते हैं अथवा जो इच्छामात्र के कार्य हैं उनमें अनीश्वरत्व अंगभूत नहीं है अर्थात् अनीश्वरत्व

मात्रादपेक्षोपगमेन किंचिदपीच्छाकार्यमुपदेशाद्यमीश्वरस्य अनीश्वरस्य वा सिद्ध्येत्; देहरागादिसहभावदर्शने च रूप्यधात्वादौ इच्छावतां तत्कार्यं न स्यात्। तदेवं तनुकरणभुवनानां संस्थानभङ्गीवैचित्र्यं तदनुगुणप्रज्ञामहिमानं विना कथं प्राधानिकजडवस्तुस्वभावमात्रादुपयोगविभागनियतमनुगामि चार्थितास्पदमुपपद्येत ॥ तदाह--

नैवोपादनहेत्वन्तःप्रवेशात्सहकारिभिः ॥ ३० ॥
संनिवेशविशेषोऽपि शक्यः कर्तुमिति क्षमम्।
लोकयात्रानुसंधानवर्ती प्रज्ञां विना नहि ॥ ३१ ॥
तथा चिकीर्षां च विना विचित्ररचनोद्भवः।
स्थूलतामात्रमेव स्यान्न तु लोकोपयोगिनी ॥ ३२ ॥
रचना नियमेन स्याद्विचित्रा जालिरूपिणी।

की शर्त नहीं है (इच्छा, बुद्धि सम्पन्न ईश्वर ही है)। (इच्छा व कार्य को) साथ-साथ देखने से इनकी परस्पर अपेक्षा समझ में आती है। अतः यह तो सिद्ध ही है कि कार्य का इच्छावान् चाहे ईश्वर हो या अनीश्वर इच्छा व कार्य का परस्पर सम्बन्ध सुनिश्चित है। शरीर और (उसके प्रति) अनुराग भाव सदा साथ-साथ दिखाई देता है किंतु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि शरीर पर पड़ी चांदी आदि धातुएँ भी उस (शरीर आदि के इच्छावान् कर्ता) का कार्य (निर्माण) है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदि में संस्थानगत विचित्रता है। इन (सब सन्निवेशों) के समान गुणों (के भेदाभेद) को जानने वाली प्रज्ञा के बिना, प्रधान से तादात्म्य रखने वाली जडवस्तु के स्वभाव को मानने मात्र से, उपयोग के विभाजन की व्यवस्था वाला (यह विविध सन्निवेश) प्रयोजन की सिद्धि कैसे करेगा ? उसी को कहते हैं—

जिस प्रकार लोक-व्यवहार को जानने वाली बुद्धि के बिना केवल सहकारी कारणों के उपादान कारण के अन्दर प्रवेश करने से ही वह (उपादान कारण) सन्निवेश विशेष की उत्पत्ति करने में समर्थ नहीं है उसी प्रकार कार्यकरणेच्छा के बिना भी विविध कार्यरूप यह (जगत्) रचना

कुलालसहकारित्वमात्राच्चेज्जायते घटः ॥ ३३ ॥
न स्याज्जातु शरीरादि दीर्घमृत्पिण्ड एव वा ।
अत एवार्थनीयत्वात्संनिवेशो विशिष्यते ॥ ३४ ॥
न घटादितया सिद्धः सोऽर्थितापरिपूरकः ।
न चेश्वरोऽनीश्वरो वा प्रकृतोऽत्राणुलक्षणः ॥ ३५ ॥
वैचित्र्यकारी यो यत्र स तत्रेश्वर इष्यते । इति ॥

न च प्रधानस्यैव मूलकारणस्य व्यवसायादिभिव्यक्तिरस्ति तत्कथं तस्येच्छादियोगः पुरुषार्थोद्देशानीतः स्यात् यतः प्रवृत्तिर्भवेत्। यद्यपि च बुद्धेरस्तीच्छानुसंधानं च व्यापारस्तथापि पुरुषसंनिधानाद्यावन्न चेत्यमानः प्रकाशमानोऽसौ संपन्नस्तावन्नेच्छादिरूपतां

स्थूलरूप में ही उत्पन्न हो पाएगी, लोकोपयोगी, विचित्र स्वभाववाली और नियमपूर्वक उत्पन्न नहीं हो पाएगी ॥ ३० ब—३३ अ ॥

यदि कदाचित् घट (आदि) कुलालरूप सहकारी कारण मात्र से उत्पन्न होता है तो लम्बे मृत्पिंड शरीर आदि की क्या आवश्यकता है ? ॥ ३३ ब—३४ अ ॥

अतः सन्निवेशों में भेद इसलिये है कि वे इसी रूप में (प्रज्ञा व इच्छा के) अभीष्ट हैं ॥ ३४ ब ॥

प्रयोजन विशेष की पूर्ति करने वाला वह (सन्निवेश) न तो (मृत्तिका की) घटादिता (मात्र) से न ईश्वररूप में, न अनीश्वर (कुम्भकार आदि) रूप में और न ही अणु लक्षण (सूक्ष्म आत्म तत्त्व) के रूप में सिद्ध होता है। जो जिस (सन्निवेश) में विचित्रता का विधायक है वहां वही ईश्वर अभीष्ट है ॥ ३५—३६ अ ॥

मूल कारण प्रधान की (विकृतियों के रूप में जो) अभिव्यक्ति होती है वह ज्ञान से शून्य होती है, ज्ञानपूर्वक नहीं होती। (जब उसमें ज्ञान नहीं है तो) इच्छा आदि का समावेश कैसे हो सकता है—वह भी ऐसा समावेश जो कि पुरुषार्थ के उद्देश्य से लाया गया हो और जिसके अनुसार प्रवृत्ति हो। यद्यपि (सांख्य मत में) इच्छानुसंधानरूप व्यापार बुद्धि में माना गया है फिर भी (वह बुद्धि) जब तक पुरुष के सान्निध्य से चेतन की तरह प्रकाशित नहीं होती तब तक उसमें इच्छा आदि का प्रादुर्भाव नहीं होता

वत्ते तथालक्षणत्वादिच्छानुसंधानादीनाम् । अन्यथार्थान्तरमेव तत्स्यात् । तथा च सति न बुद्धिप्रवृत्तिरेव पुरुषार्था यावत्पुरुषस्य संवेदनव्यापारोऽपि पुरुषार्थः स्यात् न तु केवलं प्रधानमेव संवेदनमेव च पुरुषस्यार्थः, तस्मात्पुरुषनैरपेक्ष्येण प्रधानबुद्ध्यादिव्यापारस्य पुरुषार्थता न वाच्या, तादृशस्य चेष्टानुसंधानरूपत्वाभावात् न सा युक्ता,–इति युक्तमेव । अथ सर्वपुरुषसाधारणस्य एकस्यापि बुद्धितत्त्वस्य महत्संज्ञकस्य प्रतिपुरुषमध्यवसायलक्षणवृत्तिः सत्यं भिद्यते, महत्कारणास्मिताजन्मनो वा मनः संज्ञकरणस्य । एषा अध्यवसायादिवृत्तिः प्रत्येकपुरुषनियतास्तु, न तया उत्तर-कालभाविन्या प्रधानस्य महतो वा पुरुषार्थानुसंधानेच्छावत्ता युज्यते किं तु प्रधानस्यैव प्रथमविकारकरण एव सर्वपुरुषोद्देशेन सामान्या-नुसंधानेच्छा व्यवसायादिवृत्तिः प्रथमा बुद्धिसंज्ञा अस्त्येव, येन तस्यापि बुद्धिपूर्वकारिता स्यात् । तदेवं तदपि न युक्तम्, प्रधानस्य

क्योंकि इच्छानुसंधान आदि का ऐसा ही लक्षण (सांख्य में) माना गया है। यदि (सांख्य) ऐसा नहीं मानेगा तो अर्थान्तर हो जाएगा और अर्थान्तर होने पर बुद्धि की प्रवृत्ति पुरुषार्थ के लिए नहीं हो पाएगी क्योंकि तब पुरुष का संवेदन व्यापार भी पुरुषार्थ कहलाएगा न कि केवल प्रधान का संवेदन ही पुरुष का प्रयोजन रह पाएगा। अतः पुरुष के बिना प्रधान, बुद्धि आदि के व्यवहार की पुरुषार्थता नहीं मानी जा सकती क्योंकि उस प्रकार की चेष्टा, अनुसंधानरूपता आदि का उसमें अभाव है, इसलिये उसे वैसा मानना उचित नहीं है—यह (मान्यता) युक्तियुक्त ही है। महत् नामक एक ही बुद्धि तत्त्व अथवा महत् कारण से जन्म लेने वाला अहंकार अथवा मनरूप विकार हो ये सभी पुरुषों के लिए साधारण हैं किंतु इनका ज्ञानात्मक व्यवहार वास्तव में प्रत्येक पुरुष के लिये भिन्न-भिन्न है, ऐसा मानें तो ज्ञानात्मक व्यवहार आदि की यह (भिन्न) वृत्ति प्रत्येक पुरुष में भले ही नियत हो किंतु उत्तर काल में (प्रादुर्भूत) होने वाली उस (वृत्ति) से प्रधान अथवा महत् में पुरुषार्थ का अनुसंधान करने वाली इच्छा की सिद्धि नहीं मानी जा सकती। किंतु सभी पुरुषों की दृष्टि से, सामान्य का अनुसंधान करने वाली इच्छा अथवा व्यवसाय आदि वृत्ति को ही पहले बुद्धि कहा जाता है क्योंकि यही प्रधान का प्रथम विकार है। इस तरह प्रधान की भी बुद्धिपूर्वकता होगी। किंतु ऐसा मानना भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि

सर्वथैव अव्यक्तरूपत्वेनानुपलक्षणीयवृत्तित्वात् । न च वृत्तौ पुरुषेणा-संविदितायामिच्छानुसंधानादिरूपत्वं संभवति, पुरुषेणापि प्रधानवृत्तेः केन संवेद्यमानता सर्वपुरुषोद्देशेन सामान्यप्रवृत्तेः, एकैकेन चेत् तत्तस्य सर्वज्ञत्वं स्यात्, पुरुषार्थत्वं च पूर्ववत्सर्वपुरुषोपयोगि स्व-कार्यानुसंधानवत्त्वात्, प्रकाश्यधर्मभूतायाश्च प्रकाशस्थानताया अनन्त-पुरुषसंनिधानानीतत्वादानन्त्येऽपि आश्रयैक्येन अन्योन्योन्मूलनात्पुरुष-बहुत्वासिद्धिः । अथ सामान्यरूपेणैव सर्वज्ञेन च पुरुषविशेषेण सामान्यप्रधानवृत्तेः संवेद्यमानता तत्स एवेश्वरोऽस्तु, तस्यैव विश्व-निर्मित्सा संवेद्या सती संबन्धिनी भवति,–इति प्रधानवत् तस्यापि निमित्तकारणतायोगात्सर्वज्ञत्वात्सर्वकर्तृत्वाच्च ॥ तदाह––

न च प्रधानस्येच्छादिसंभवः पुरुषार्थता ॥ ३६ ॥

प्रधान पूर्णतया अव्यक्तरूप वाला होने के कारण अप्रकट वृत्ति वाला है । इस अज्ञात वृत्ति में, पुरुष के द्वारा इच्छानुसंधान होता है यह कहना भी उचित नहीं है । पुरुष के द्वारा प्रधान में यह (अध्यवसाय–) वृत्ति आती है—ऐसा मानने पर सभी पुरुषों के किस उद्देश्य से सामान्य प्रवृत्ति की संवेद्यमानता होगी । एक-एक की (वृत्ति) मानें तो प्रत्येक की सर्वज्ञता होगी । पुरुषार्थ तो, पहले की तरह, सभी पुरुषों के उपयोग के लिये होता है क्योंकि वह अपने कार्य के अनुसंधान में समर्थ होता है । अनन्त पुरुषों के सान्निध्य के कारण प्रकाश्य धर्मवाली प्रकाशस्थानता के अनन्त होने पर भी, आश्रय के एक होने से पुरुषों के बहुत्व की सिद्धि भी नहीं होगी क्योंकि (पुरुष-बहुत्व मानने पर) वे एक दूसरे का उच्छेद करने लगेंगे । सामान्य-रूप सर्वज्ञ पुरुष-विशेष से सामान्य प्रधान की वृत्ति की संवेद्यमानता है । अतः वही (पुरुष-विशेष ही) ईश्वर माना जाए और उसी की विश्वनिर्माण की इच्छा संवेदन-योग्य बनकर (प्रधान से) सम्बन्ध रखने वाली सिद्ध हो । इस प्रकार प्रधान की तरह उस (पुरुष) में भी निमित्तकारणता का प्रसंग उपस्थित होगा क्योंकि वह भी सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व से सम्पन्न है । इसी को कहते हैं—

प्रधान में (अचेतनता के कारण) न तो इच्छा आदि की उत्पत्ति हो सकती है और न ही पुरुषार्थता हो सकती है ॥ ३६ ॥

यतः स्यादस्य बुद्धेस्तु संभवन्नप्यसंभवी ।
विना संवेद्यतां पुंसस्तथात्वे पुरुषार्थता ॥ ३७ ॥
पुंसोऽपि स्यात्प्रधानस्यावाच्या सा केवलस्य तु ।
अथापि मनसो वृत्तिर्बुद्धेर्वैकैकसंस्कृता ॥ ३८ ॥
इच्छा नाम कथं सर्वपुरुषार्थोपयोगिनी ।
स्यात्किं तु सा प्रधानस्य सामान्यस्याखिलान्प्रति ॥ ३९ ॥
पुंसःस्यात्साप्यसंवेद्या नेच्छा वेद्या च कस्य सा ।
सर्वेषां यदि सार्वज्ञ्यमेकैकस्य प्रसज्यते ॥ ४० ॥
संकीर्येरन्प्रकाशैक्याद्भिन्नाश्चाभासमानताः ।
अथापि सर्वपुरुषाभिन्नेनैकेन केनचित् ॥ ४१ ॥
वेद्या सा वैष तर्ह्येकः कर्ता ज्ञाता स चेश्वरः । इति ॥

(प्रधान से उत्पन्न) इस बुद्धि की (इच्छादि हैं ऐसा) मानें तो (यह पूर्वपक्ष भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि बुद्धि में) उसका होना भी न होना ही है ।। ३६ ब–३७ अ ।।

यदि इच्छा व ज्ञानरूप संवेद्यता के बिना अचेतन प्रधान को पुरुषार्थता का ज्ञान हो सकता है तो वह (पुरुषार्थज्ञान) पुरुष में भी हो सकता है। तब केवल प्रधान की ही वह (पुरुषार्थता) नहीं कही जानी चाहिये ।। ३७ ब–३८ अ ।।

और यदि (पूर्वपक्षी सांख्य यह कहे कि) मन अथवा बुद्धि की एक-एक (अलग-अलग) परिमार्जित वृत्ति इच्छा है तो फिर वह सभी पुरुषों के लिए उपयोगी कैसे हो सकती है ? सामान्य प्रधान की वह इच्छा समस्त पुरुषों के प्रति कैसे हो सकती है ।। ३८ ब–३९ ।।

वह इच्छा असंवेदनीया तो नहीं है तब फिर किसके द्वारा वह जानने योग्य है ? यदि उस इच्छा को सभी पुरुषों के द्वारा वेदनीय माना जाता है तो प्रत्येक पुरुष में सर्वज्ञता आ जाएगी ।। ४० ।।

प्रकाश की एकता के कारण भिन्न-भिन्न आभासमानताएँ संकुचित हो जाएँगी और यदि सभी पुरुषों के अभिन्न होने से किसी एक पुरुष से वह (इच्छादि) वेदनीय है तो वह एक पुरुष ही कर्ता, ज्ञाता और ईश्वर है । ।। ४१–४२ अ ।।

अथ न पुरुषस्योपयोगि 'करोमि' इत्येवमनुसंधानवन एव पुरुषार्थत्वं येन प्रधानस्य तदभावान्न स्यात् अपि तु प्रधानं महद्वा तन्मात्राणि वा यदि वा शुक्रशोणिताद्यपि तत्स्वभावत्वादेव तादृक्कार्यमभिनिर्वर्तयति, यज्जातं सद्विचित्रसंनिवेशादिकं परतोऽर्थक्रियाविशेषार्थी प्रमाता दृष्ट्वा स्त्रीपुंसादिवदन्योन्यं योजयति। क्वचित्पुनः कर्मवशाच्च व्याघातकादीनां काकतालीयेन अन्यथा वा संनिपातो भवेत्ततः पुरुष-भोगार्थमिव कारणानां प्रवृत्तिरित्युपचारेण पुरुषार्थता उच्यते, तदेतदपि न युक्तम्। यत एवं सति वस्तुतो निमित्तकारणाभावात् स्वातन्त्र्येण स्वभावादेव कारणानां तथाविधकार्यविशेषकारितेति दृष्टे प्रकृतिपुरुषान्तरे तमेव पुरुषं प्रत्यपि तेषां कथं कार्यकरणाय प्रवृत्तिर्न भवति। अथ भवत्येव प्रकृत्यैकस्य। ननु एकस्य प्रकृति-पुरुषान्तरज्ञानादेव सा निरुध्यते, सर्वपुरुषसाधनत्वं कस्याः

पुरुष के उपयोग के लिये (कार्योत्पत्ति) करता हूं—इस प्रकार का अनुसंधान करने वाले (प्रधान का) पुरुषार्थत्व नहीं है क्योंकि प्रधान में (ऐसी इच्छा) न होने से वह (पुरुषार्थ) उसमें नहीं हो सकता। अपितु प्रधान, महत्, तन्मात्र अथवा शुक्र, शोणित आदि भी, उसी (प्रधान) के स्वभाव वाले होने के कारण उस प्रकार का कार्य सम्पन्न करते हैं। अर्थक्रियाविशेष का इच्छुक प्रमाता दूसरे (प्रधान) से उत्पन्न हुए सत् और विचित्र सन्निवेश आदि को, स्त्री-पुरुष की भांति, एक दूसरे से जोड़ता है। यह जोड़ना कहीं-कहीं व्याघातकों के कर्म के कारण (अर्थात् प्रयास करने से) और कहीं-कहीं काकतालीय न्याय से (अर्थात् अकस्मात्) होता है। अतः कारणों की प्रवृत्ति मानो पुरुष के भोग के लिये है—औपचारिकरूप से भी जो ऐसी पुरुषार्थता कही जाती है वह युक्ति-युक्त नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर वास्तव में बिना निमित्त कारण के ही, स्वतंत्र होने तथा वैसा स्वभाव होने से कारणों में कार्य विशेष को उत्पन्न करने की क्षमता हो जाएगी। प्रकृति-पुरुष (दोनों) में से एक के देखने पर ही उसी पुरुष के लिए उन कारणों में कार्य उत्पन्न करने की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है? यदि ऐसी प्रवृत्ति होती है तो फिर एक ही पुरुष की प्रकृति मानी जाएगी (सब पुरुषों की सामान्य नहीं)। यदि यह कहा जाए कि प्रकृति-पुरुष में से एक के ज्ञान से ही वह (परिणामों को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति) निरुद्ध हो जाती है तो यह बात

प्रकृतेरेकरूपत्वात् अष्टानां प्रकृतीनां, तदस्त्वासां; शुक्रशोणितादेस्तु मुक्ताभिमतं पुरुषं प्रति कस्माद् देहात्मककार्यजननं न भवेत्। अथ तस्यापि तद्भवत्येव किं तु पुरुषस्य कृतार्थत्वात् न तदुत्पन्नमतिसंवेद्यतां याति। तदेतदेवं स्यात् यदि पुरुषस्य बुद्धिसंवेदनाय स्वरूपातिशयलक्षणः कश्चिदुद्यमः स्यात्, स चेदानीं कृतकार्यत्वात् तस्य निवृत्तः, इति यावता सर्वदा निरभिप्रायो निरुद्यम एव चैकरूप उदासीनः पुरुषो न तस्यैकदातिशययोगोऽन्यदा तन्निवृत्तिः कूटस्थताहानिप्रसङ्गात्। केवलं बुद्धेः कर्मवशात् प्रतिपुरुषं वृत्तिविशेषोऽन्तःकरणस्य वा नियतो, येन मुक्तपुरुषस्यापरबुद्धिवृत्तिः संवेदनमनुभवति, अन्यथा एकात्मीयाभिमतबुद्धिवृत्तिभोगानिवृत्तेः। ततः पुरुषस्य अर्थित्वानर्थित्वविभागाभावात् नित्यनिर्मुक्तस्वभावस्य अन्तःकरणमात्मकर्मनियतं केवलं बद्धावस्थायां कर्मभिः संवेद्यं भवेत्

स्वीकार्य नहीं है क्योंकि (तब यह प्रश्न उठेगा कि) सभी पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला वह (प्रवृत्ति-निरोध) किसका ? प्रकृति तो एक है। तब इन आठ प्रकृतियों का हो। यहाँ प्रश्न उठेगा कि मुक्त पुरुष के लिए, शुक्र, शोणित आदि से शरीर-उत्पत्तिरूप कार्य क्यों नहीं होता है। यदि मानते हैं कि उस (मुक्त पुरुष) के लिये भी वह होता तो है किंतु पुरुष के कृतकृत्य हो जाने के कारण उत्पन्न होकर ज्ञान का विषय नहीं बनता। तब ऐसा कहना होगा कि बुद्धि के संवेदन के लिए, स्वरूपातिशय लक्षण वाला पुरुष का कोई प्रयास हो सकता था किंतु कृतार्थ हो जाने के कारण वह भी निवृत्त हो चुका है। अतः जब तक पुरुष निरभिप्राय, उद्यमरहित तथा उदासीन है तब तक उसका अतिशय से सम्बन्ध नहीं होता। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो वह (स्वरूप से) निवृत्त हो जाएगा और तब उसके कूटस्थ स्वरूप की हानि का प्रसंग उपस्थित होगा। केवल बुद्धि के अथवा अन्तःकरण के कर्म के कारण, प्रत्येक पुरुष के प्रति वृत्तिविशेष नियत है जिसके फलस्वरूप मुक्त पुरुष की अपर बुद्धिवृत्ति संवेदन का अनुभव करती है अन्यथा एकाकार हुई बुद्धिवृत्ति का भोग कभी निवृत्त ही नहीं होगा। तब नित्यनिर्मुक्त स्वभाववाले पुरुष में अर्थित्व-अनर्थित्व का विभाग न होने से केवल बद्धावस्था के कर्मों से ही आत्मकर्म से नियत अन्तःकरण का ज्ञान होता है। मोक्ष दशा में तो वह (संवेदन) उत्पन्न ही नहीं होगा। अन्यथा कर्मों के उसी रूप में

मोक्षदशायां तु नोत्पद्यत एव अन्यथा कर्मणां तादवस्थ्यात् कथं न नियतप्रस्तुतपुरुषसंवेद्यता स्यादेव, न हि पुरुषाणां कर्म नियामकम् अपि तु अन्तःकरणस्यैव। तदेवं स्वकारणस्वातन्त्र्यादेवोत्पन्ने सान्तःकरणे देहे नानर्थित्वात् तस्य पुरुषसंवेद्यता स्यादेव, न भवतीति नोपपन्नं तस्य संवेद्यस्वभावत्वात्। अथ क्षीणकर्मणोऽन्तःकरणस्य न संवेद्यतास्वभाव उच्यते, तदत्र किं प्रमाणम्। कर्मभावाभावाभ्यां च तदानीं बन्धमोक्षाभ्युपगमः स्यात्, न संयोगवियोगाभ्यां, ततश्च दर्शनक्षतिः। न चापि कर्माणि करुणयापि दानादीनि ज्ञातपुरुषान्तरस्य विरमन्ति, रागद्वेषप्रयुक्तानां कर्मणां बन्धकत्वाभ्युपगमे रागादिभावाभावकृतबन्धमोक्षवादिदर्शनाश्रयणमेव स्यात्,—इति स्वाभाविकपुरुषवादे ज्ञातपुरुषविवेकस्यापि बुद्धिसंबन्धपरिहारायोगादनिर्मोक्षापत्तिः,—इत्यपरबुद्धिमत्पुरुषप्रेरणयैव सा मूलकारणस्य

अवस्थित होने से, प्रत्येक पुरुष में सुनिश्चित संवेद्यता क्यों नहीं होगी? (अर्थात् अवश्य ही होनी चाहिये।) पुरुषों का नहीं अपितु अन्तःकरण का ही कर्म नियामक होता है। तो इस प्रकार अपने कारण की स्वतंत्रता से ही उत्पन्न होने वाले अन्तःकरण व शरीर में प्रयोजनवत्ता होने के कारण, उसकी पुरुष-संवेद्यता होगी ही; नहीं होती है —ऐसा सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उसका (पुरुष का) स्वभाव ही संवेदन का है। अब यदि क्षीण कर्मवाले अन्तःकरण का स्वभाव संवेदन का नहीं है ऐसा कहा जाता है तो इसमें क्या प्रमाण है। उस अवस्था में, कर्म के भाव-अभाव से (क्रमशः) बन्ध-मोक्ष का प्रसंग स्वीकृत होगा न कि (कर्म से अन्तःकरण के) संयोग या वियोग के द्वारा; और तब उससे सिद्धान्त की हानि होगी। करुणा से (प्रेरित होकर) किये गये दानादि कर्मों से भी अन्य ज्ञानी पुरुष विराम नहीं लेता है क्योंकि राग-द्वेष (आदि) भावों से प्रेरित कर्म बन्ध का कारण है ऐसा मानने से बन्ध-मोक्षवादी उस सिद्धान्त को स्वीकार करने का प्रसंग आ जाएगा जो राग आदि के भाव और अभाव से उन्हें (बन्ध-मोक्ष को) मानते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक पुरुषवाद में ज्ञानी पुरुष के विवेक का बुद्धि से सम्बन्ध विच्छिन्न न हो पाने के कारण मोक्ष न होने का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। इस तरह दूसरे बुद्धिमान् पुरुष की प्रेरणा से ही वह प्रवृत्ति सिद्ध होती है जो (प्रवृत्ति) मूलकारण से संसार के लिये उपयोगी

संसारोपयोगिसंनिवेशविशेषकरणे प्रवृत्तिरुपपन्ना,-इति निरवद्य एव प्राक्तनहेतूपन्यासः ॥ तदाह

न लोकयात्राभिप्रायाज्जनयेद्बीजमङ्कुरम् ॥ ४२ ॥
किं तु स्वभावात्सा तस्य सामग्री हेतुरीदृशः ।
यज्जातं योग्यमन्योन्यं योजयेद्बुद्धिमाञ्जनः ॥ ४३ ॥
अस्य तेनोपचारेण पुरुषार्थत्वमुच्यते ।
इति चेत्तत्समाप्तेऽपि पुरुषार्थेऽपि तं प्रति ॥ ४४ ॥
स्वकार्यपरिणामान्न विरमेन्मूलकारणम् ।
आहो न विरमत्येतत्परं प्रकृतिसप्तके ॥ ४५ ॥
परिणामात्तदेकं हि सर्वान्पुंसः प्रतीष्यते ।
तथापि[1] देहभूतादेः परिणामः स्वभावतः ॥ ४६ ॥
पूर्ववन्न भवेत्कस्मात्तं मुक्ताभिमतं प्रति ।

सन्निवेशविशेष को उत्पन्न करने में समर्थ है। अतः पहले प्रस्तुत की गई युक्तियाँ दोष-रहित हैं। इसीको कहते हैं—

बीज, अंकुर को लोकव्यवहार के लिये उत्पन्न नहीं करता है किंतु स्वभाव के कारण ऐसा करता है क्योंकि उसकी वह कारण-सामग्री ही ऐसी है। बुद्धिमान् का कार्य है कि जो वस्तु जन्म ले चुकी है उस योग्य (वस्तु) को योग्य से जोड़े ॥ ४२ ब-४३ ॥

उपचार के कारण यदि इस (प्रधान) का पुरुषार्थ कहा जाता है तो पुरुषार्थ की सम्पूर्ति होने पर भी मूल कारण (प्रधान) अपने कार्यरूप परिणाम से विराम नहीं लेगा। किंतु आश्चर्य है कि वह प्रकृतिसप्तक में विराम नहीं लेता ॥ ४४-४५ ॥

यदि समस्त पुरुषों के प्रति उस मूलकारण को एक माना जाता है तो भी (प्रश्न उठेगा कि) मुक्त पुरुष के लिए शरीर, भूतादि पदार्थों का स्वाभाविक परिणाम पहले की तरह क्यों नहीं होता ॥ ४६—४७ अ ॥

---

१. तयेति पाठान्तरम् ।

अथापि स भवत्येव किं तु तेन न युज्यते ॥ ४७ ॥

मुक्तपुंसां कृतार्थत्वादनर्थित्वात्स केवलः ।
नैतन्नार्थित्वमस्यास्ति जातु पुंसोऽथ चेतसः ॥ ४८ ॥

अर्थित्वविगमान्न स्याद्भूयः पुंसा समागमः ।
तदेतदपि न न्याय्यं जाते देहस्थचेतसि ॥ ४९ ॥

संवेद्यैकस्वभावत्वात्तस्य कर्मक्षयान्न चेत् ।
तत्स्वभावत्वमेव स्यान्मोक्षः कर्मक्षयाश्रयः ॥ ५० ॥

स्युर्ज्ञातपुंविवेकानां कर्माण्यपि कृपादितः ।
न रागात्तानि चेदेवं मोक्षो रागक्षयाद्भवेत् ॥ ५१ ॥

यदि यह कहो कि वह होता तो है किंतु वह (निवृत्त हो जाने के कारण) उससे स्वयं को जोड़ता नहीं है ॥ ४७ ब ॥

मुक्त पुरुषों के कृतार्थ हो जाने और कोई प्रयोजन शेष न रहने से वह केवल रह जाता है। इसलिये प्रकृति के स्वाभाविक परिणामों से वह जुड़ता नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस चेतन पुरुष का वास्तव में कोई प्रयोजन था ही नहीं जिसकी पूर्ति हुई हो ॥ ४८ ॥

इसलिये प्रयोजन की पूर्ति हो जाने से अब (मुक्त पुरुष का) प्रधान से पुनः समागम नहीं होगा—ऐसी भी कोई व्यवस्था नहीं होगी क्योंकि देह में चेतन विद्यमान रहेगा ॥ ४९ ॥

(प्रधान) का एकमात्र स्वभाव संवेद्यता का है और उस (पुरुष) के कर्मों का क्षय हो गया है। अतः (दोनों का) समागम नहीं है यदि ऐसा कहो तो कर्मों के क्षय का आश्रय मोक्ष ही उस (पुरुष) का स्वभाव हो जाएगा ॥ ५० ॥

प्रकृति-पुरुष के भेद को जानने वालों के (दानादि) कर्म कृपा से भी प्रेरित होंगे, वे राग (द्वेष आदि) के अधीन नहीं होंगे—यदि ऐसा कहते हो तब राग के क्षय से ही मोक्ष होने लगेगा ॥ ५१ ॥

तथा च दर्शनत्यागस्तन्न युक्त स्वभावदृक् ।
तस्मात्प्रसिद्धं तन्वादि बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकम् ॥ ५२ ॥
संस्थानभेदादित्येतन्निरवद्यं प्रसाधनम् ॥ ५३ ॥ इति ॥
स एष हेतुः परमेश्वरं प्रति
प्रयुज्यमानः स्वनिवेशितात्मना ।
न हेतुदोषैः परिभूयते मनाक्
परोऽपि वा केवलमेतदुच्यते ॥ ५४ ॥
समुज्ज्वलन्न्यायसहस्रसाधितोऽ
प्युपैति सिद्धिं न विमूढचेतसाम् ।
महेश्वरः पाणितलस्थितोऽपि सन्
पलायते दैवहतस्य सन्मणिः ॥ ५५ ॥
स्वात्मैवायं स्फुरति सकल-
प्राणिनामीश्वरोऽन्तः
कर्ता ज्ञातापि च यदि परं
प्रत्यभिज्ञास्य साध्या ।

और इस प्रकार (रागादि के क्षय से मोक्ष) मानने पर सिद्धान्त का त्याग होगा । अत: स्वभाववाद युक्तियुक्त नहीं है । शरीर आदि को बुद्धिमान् कर्ता पूर्वक मानना प्रसिद्ध (सिद्ध) है क्योंकि संस्थानों में भेद है । इस प्रकार यह सिद्धि निर्दोष है ।। ५२—५३ ।।

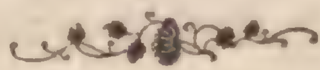
परमेश्वर के प्रति स्वनिवेशितरूप में प्रयुक्त हुआ यह हेतु थोड़ा-सा भी हेतु-दोषों से युक्त नहीं है (अर्थात् हेत्वाभासादि दोषों से सर्वथा शून्य है) । दूसरे (सांख्यादि दर्शनों) को केवल इतना ही कहा जाता है ।। ५४ ।।

सहस्रों तर्कों से सिद्ध किया गया अत्यन्त स्पष्ट (यह) महेश्वर भी मोहग्रस्त लोगों के लिए उसी प्रकार असिद्ध रह जाता है जैसे दुर्भाग्यशाली व्यक्ति के करतल स्थित उत्तम मणि भी विलुप्त हो जाती है ।। ५५ ।।

समस्त प्राणियों के अन्दर कर्ता व ज्ञाता स्वात्मरूप ईश्वर ही स्फुरित होता है । इसकी प्रत्यभिज्ञा हम (और अधिक) तर्कपूर्वक अन्यत्र (ईश्वर-

सा चास्माभिर्विहितघटना-
न्यत्र किं त्वीशसिद्धि-
र्द्वैतेऽप्यस्तीत्युचितमधिकं
भाति वह्निर्निशीथे ॥ ५६ ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्योत्पलदेवेनोदयाकरसूनुना
विरचिता ईश्वरसिद्धिः समाप्ता ॥



प्रत्यभिज्ञाकारिका में) सिद्ध करेंगे । किंतु (प्रस्तुत ग्रंथ में विवेचन का केवल यही उद्देश्य है कि) द्वैतवाद में भी ईश्वर सिद्ध है । यह रात्रि में अग्नि की तरह अधिक भासित होता है ॥ ५६ ॥

उदयाकर के पुत्र श्रीमान् महामाहेश्वराचार्य उत्पल देव के द्वारा
विरचित ईश्वरसिद्धि समाप्त ॥



अथ

सम्बन्धसिद्धिः

श्रीमदाचार्योत्पलदेवविरचिता



भेदाभेदात्मसंबन्धसहमर्वार्थसाधिना[1] ।
लोकयात्रा कृतिर्यस्य स्वेच्छया तं स्तुमः शिवम् ॥ १ ॥
भावभेदादिसंबन्धमयेन वपुषोन्मिषन् ।
जयत्येकोऽपि विश्वात्मा प्रकाशः परमेश्वरः ॥ २ ॥

इह भावानां सम्बन्धो विचार्यते,—कस्तावत्सम्बन्धशब्दार्थः संसर्गः सम्पर्कः संश्लेषः सम्बन्ध इत्यप्युक्ते न विवृतः सबन्धार्थः प्रतीयते। किं नैरन्तर्यं संश्लेष उतान्यत्किंचित्। नैरन्तर्यं चेत् दूरस्थयोः पितापुत्रयोः स न स्यात्, अयःशलाकयोः सन्निकृष्टयोर्विभुद्रव्ययोरपि च स्यात्।

भेदात्मक और अभेदात्मक सम्बन्धपूर्वक समस्त पदार्थों (प्रयोजनों) को सिद्ध करने वाला लोकव्यवहार जिस (शिव) की अपनी इच्छानुसार रचना है उस शिव को हम स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

पदार्थों के भेद आदि सम्बन्ध वाले (अनेक) शरीरों के रूप में आभासित होते हुए भी वह प्रकाशस्वरूप विश्वात्मा एक परमेश्वर विजयी होता है ॥ २ ॥

यहाँ पदार्थों के सम्बन्ध पर विचार किया जाता है। 'सम्बन्ध' शब्द का अर्थ क्या है—संसर्ग, संपर्क, संश्लेष, सम्बन्ध—ऐसा कहने पर भी सम्बन्ध शब्द का (वास्तविक) अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है। संश्लेष का अर्थ क्या निरन्तरता (निकटता) है या और कुछ? यदि (इसका अर्थ) निरन्तरता है तो दूर रहने वाले पिता और पुत्र में वह नहीं होगा और पास रहने वाली दो लौह-शलाकाओं तथा दो विभु द्रव्यों में भी वह होने लगेगा।

---

१. ख० भेदात्मेति पाठः।

अथ द्विष्ठः पदार्थः कश्चित्सम्बन्धः । तत्रापि द्विष्ठतैव सम्बन्धता चेत् तद्द्वित्वद्विपृथक्त्वादेरपि सा स्यात्। न चायमर्थः सम्बन्धशब्दस्य अवयवार्थानुरोधा[1]दुत्तिष्ठति अपि तु तैल- पायिका-शब्दस्येव संकेतमात्रात् । अथ सम्बन्धशब्दार्थ एव न द्विष्ठता अपि तु सोऽन्य एव केवलं सम्बद्धयोरेव सम्भवतीति द्विष्ठ उच्यते, स तर्हि स्वरूपेणैव स्पष्टमुच्यतां सम्बन्धः संश्लेष इत्यादिपर्यायाणामयमर्थ इति। अपेक्षापारतन्त्र्यादिरपि न चान्यः सम्बन्धार्थो द्विष्ठत्वन्यायेनैव सोऽर्थाक्षिप्तः स्यात्। न चाप्यर्थाक्षिप्ततास्य, न हि

अब यदि (नैयायिकों के मत की तरह) दो में रहने वाला कोई (तीसरा) पदार्थ सम्बन्ध माना जाता है और यदि वहाँ (उस मत में) दो में रहना (द्विष्ठता) ही सम्बन्धत्व है तो वह द्वित्व में और दो से पृथक्त्व आदि में भी होगा। ('सम्बन्ध') शब्द का यह अर्थ सम्बन्ध शब्द के अवयवों के अर्थ के अनुरोध से नहीं अपितु 'तैलपायिका' शब्द की तरह संकेत मात्र से ग्रहण किया हुआ है तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है। [अर्थात् जैसे तैल व पायिका (पीने वाली) इन दो शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं किन्तु दोनों के मिल जाने से लाल चींटी अथवा लकड़बग्घा जैसा एक नया अर्थ निकलता है और यह अर्थ दो शब्दों के अलग-अलग अर्थों से नहीं अपितु दोनों शब्दों के संयोग से संकेतित तीसरा अर्थ है उसी प्रकार यहाँ 'सम्' और 'बन्ध' इन दो शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ को मिलाकर सम्बन्ध का वास्तविक अर्थ नहीं निकलता बल्कि इन दोनों शब्दों से केवल संकेत ग्रहण करने से तीसरा अर्थ जो निकलता है वही सम्बन्ध का वास्तविक अर्थ है।] यदि यह कहा जाय कि सम्बन्ध शब्द का अर्थ द्विष्ठता ही नहीं है अपितु कुछ और है। उसे द्विष्ठ तो इसलिये कहा जाता है कि वह दो सम्बन्धियों में ही संभव (उत्पन्न) होता है (अर्थात्) दो सम्बद्ध पदार्थों के होने पर ही उत्पन्न होता है) तो इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट बताना चाहिये कि सम्बन्ध, संश्लेष इत्यादि पर्यायों का यह अर्थ है। अपेक्षा, परतन्त्रता आदि भी सम्बन्ध शब्द का दूसरा अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि वह (अर्थ) द्विष्ठतान्याय से (द्विष्ठत्व का खण्डन करने से) स्वतः ही खण्डित हो जाता है।

१. ख० एतदुत्तिष्ठतीति पाठः।
२. ख० पु० सोऽपि द्वयोरिति पाठः।

जडयोः सम्बन्धिनोरपेक्षार्थो घटते पारतन्त्र्यार्थो वा। अथाप्यङ्कुर एव बीजमपेक्षते बीजे वा परतन्त्रो भवति, तदायत्तत्वादेस्तदात्म-लाभस्येत्येतदपि न सम्यक्; उपचारो ह्ययमपेक्षत इव परतन्त्र इवेति स्यात्, न तु जडस्य मुख्यैवाकाङ्क्षा प्रार्थना चेच्छैव विशिष्टा अपेक्षा पारतन्त्र्यं वा परप्रवणता परकीयविनियोगाकाङ्क्षा स्वेच्छाचरण-निरोधलक्षणः संकल्पविशेष एव संगच्छते। अलब्धात्मनश्चात्मलाभा[1]-र्थमपेक्षादि कथ्यते, न च तदानीमद्विष्ठत्वात्सम्बन्धार्थोपपत्तिः; तस्मान्मुक्तकण्ठमेव मुख्यः सम्बन्धोऽभिधातव्य इति।

तत्रोच्यते सम्बन्धः सम्पर्कः संश्लेष इत्येते पर्यायास्तावद्भवन्ति, स च संश्लेषार्थोऽनेकस्यैकता कथ्यते, न त्वनेकतैव नापि एकतैव अपि तु उभयावस्थापे[2]क्षोऽयमर्थः सम्बन्धः। अत एव न बहूनामेकः

(यदि कोई कहे कि) इस (अपेक्षादि अर्थ) का (द्विष्ठता की तरह) खण्डन नहीं माना जा सकता तो (उनके लिये उत्तर है कि) दो अचेतन सम्बन्धियों में अपेक्षा का अर्थ अथवा परतन्त्रता का अर्थ घटित नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाए कि अंकुर ही बीज की अपेक्षा करता है अथवा (अंकुर अपने प्रादुर्भाव के लिये) बीज के प्रति परतंत्र है, वह (अंकुर) अपने स्वरूप-लाभ के लिये उस बीज के अधीन है तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि 'अपेक्षा करता है' 'परतंत्र है' ऐसा कहना औपचा-रिकता मात्र है। वस्तुतः अचेतन में मुख्य आकांक्षा, प्रार्थना, इच्छा, विशिष्ट अपेक्षा अथवा परतंत्रता, परप्रवणता, दूसरे से जुड़ने की आकांक्षा और स्वेच्छाचार को निरुद्ध करने वाला संकल्पविशेष ही संभव नहीं है। क्योंकि अपेक्षा आदि का अर्थ माना जाता है अप्राप्त स्वरूप की प्राप्ति (अर्थात् जो वस्तु पास में नहीं है उसको पाने की इच्छा)। और उस समय (बीज से अंकुर के आत्मलाभ के समय) दोनों के अद्विष्ठ (एक ही समय में दोनों की उपस्थिति न) होने के कारण सम्बन्ध के (उक्त) अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। अतः अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक सम्बन्ध का स्वरूप कहिये।

यहाँ (सिद्धान्तपक्ष) कहा जाता है कि सम्बन्ध, सम्पर्क, संश्लेष ये सब पर्याय हैं और संश्लेष का अर्थ है अनेक में एकता। इस सम्बन्ध

१. ख० अर्थलाभेति पाठः। २. ख० पु० पेक्षयेति पाठः।

सम्बन्धः। यदि हि अनेकत्वमात्रमेकत्वमात्रं वा सम्बन्धः स्यात्, तद्बहूनामपि एकतापत्तौ एकतानापत्तावपि वा स्यात् एकमात्रस्यापि च स्यात्। यदा पुनरनेकस्यैकता सम्बन्ध उभयापेक्षया तदानेकापेक्षणा-देकमात्रस्यैव न सम्बन्धः, एकापेक्षणाच्च नानेकस्यैव पृथक्स्थितस्य। न चापि त्र्यादीनामेकः सम्बन्धः, त्रयाणां हि भिन्नभेदावधिकृतद्वैरा-श्याश्रयात्परस्परं भेदात्, तेषां च सम्बन्धस्वरूपस्थितावपेक्षणात्, एकस्य द्वितीयेन सह यैकता न सा तृतीयेन सह, तयोर्द्वितीयतृतीययो-र्भेदादपेक्षणाच्च; ततो बहूनां शतादिसंख्यानामपि प्रतियुगलमेवैकः सम्बन्ध उद्घोष्यते,—इत्येवं द्वयोरेकात्मेति सम्बन्धशब्दार्थोऽवयवानु-सारेणैव व्यवस्थितः। संशब्देन सहार्थवृत्तिना समानार्थवृत्तिना वा बन्धिना च देशान्तरपरिहारपूर्वकैकदेशावस्थानार्थेन विस्पष्टमुक्तैव स ह्यनेकस्यैकता। केवलमनेकस्य एकता संभवेन्नवेति पर्यालोच्यते,—तत्रायं सम्बन्धोऽनेकधा प्रतीयते,—पितुः पुत्रः, राज्ञः पुरुषः, वृक्षस्य

का अर्थ न तो अनेकता ही और न केवल एकता ही है अपितु इसमें दोनों (एकता-अनेकतारूप) अवस्थाओं की अपेक्षा होती है। इसीलिये अनेक का एक सम्बन्ध नहीं होता है। सम्बन्ध यदि अनेकता मात्र अथवा एकता मात्र हो तो वह अनेक की एकता होने पर अथवा एकता न होने पर भी हो जाए और एक (वस्तु) मात्र में भी हो जाए। किंतु जब (एकता व अनेकता) दोनों की अपेक्षा से अनेकता में एकतारूप सम्बन्ध माना जाएगा तब वह सम्बन्ध अनेक की अपेक्षा के कारण मात्र एक में नहीं होगा और एक की अपेक्षा के कारण भिन्न-भिन्न रूप में स्थित मात्र अनेक में भी नहीं होगा। और तीन आदि (पदार्थों) का भी एक सम्बन्ध नहीं होगा क्योंकि वे तीन (पदार्थ) अलग-अलग दो राशियों पर स्थित हैं, परस्पर भिन्न हैं। उनसे सम्बन्ध के स्वरूप में स्थिति की अपेक्षा है। एक की दूसरे के साथ जो एकता (सम्बन्ध) है वह तीसरे के साथ संभव नहीं है क्योंकि उन द्वितीय व तृतीय में स्वयं परस्पर भेद है और अपेक्षा भी (वहाँ भेद की ही) है। अतः अनेक और सौ आदि संख्याओं का भी प्रत्येक जोड़े के रूप में एक ही सम्बन्ध उद्घोषित होता है। इस प्रकार सम्बन्ध शब्द का दो में एकतारूप अर्थ अवयवों के अनुसार ही निश्चित होता है। 'सम्' शब्द के द्वारा सह अर्थ वृत्ति से अथवा (दो पदार्थों की एक में) समानरूप से रहने

शाखा; धवश्च खदिरश्च, नीलमुत्पलं, देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति घटस्याभावः, अस्मादिदमन्यत्,-इत्येवमादिना रूपेण। तथा विपर्ययेणापि पुत्रस्य पिता, पुरुषस्य राजेति। तत्र किमिदं प्रतीतिमात्रम् उत वस्त्वेव एवंभूतं प्रतीयते। तत्र यदि प्रतीतिमात्रमेतत् वस्तुस्वरूपं तर्हि वक्तव्यम्।

तत्राचक्षते,-वस्तु घटादि स्वात्ममात्रपरिसमाप्तमन्योन्यव्यावृत्तमित्थमेव हि स्वात्मावभासिना प्रत्यक्षेण प्रतीयते कल्पना कल्पितैव सा। ते हि 'अमिश्राः स्वयं भावास्तान्योजयति कल्पना' इत्याहुः, तथा नीलमुत्पलमिति शाब्द्या कल्पनया परं नीलोत्पलयोरेकात्मता

वाली वृत्ति से तथा 'बन्धी' शब्द के द्वारा देशान्तर के परिहारपूर्वक एक देश में अवस्थिति से स्पष्ट ही कहा गया है कि वह (सम्बन्ध) अनेक में एकतारूप है। अब केवल यह विचार किया जाता है कि अनेक की एकता हो सकती है या नहीं। यह सम्बन्ध अनेक प्रकार का प्रतीत होता है (जैसे) पिता का पुत्र, राजा का पुरुष, वृक्ष की शाखा, धव और खदिर, नील कमल, देवदत्त लकड़ियों से स्थाली में ओदन पकाता है, घट का अभाव, इससे यह भिन्न है—इत्यादि रूप में (यह अनेक प्रकार का है)। इसी प्रकार पुत्र का पिता, पुरुष का राजा (इत्यादि रूपों में) विपरीत भाव से भी (यह अनेक प्रकार का) है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह (सम्बन्ध) प्रतीति मात्र है या वास्तव में पदार्थ ही (सम्बद्ध होकर) ऐसा प्रतीत होता है। यदि यह प्रतीति मात्र ही है तो फिर वस्तु का स्वरूप बताया जाना चाहिये।

यहाँ कहा जाता है कि घट आदि पदार्थ अपने स्वरूप में पूर्णतः स्थिर रहने वाले और एक दूसरे से विलक्षणता रखने वाले होते हैं जो वस्तु-स्वरूप को प्रकाशित करने वाले प्रत्यक्ष (प्रमाण) से इस प्रकार प्रतीत होते हैं। यह प्रतीति कल्पना से कल्पित (काल्पनिक) ही है। उन्होंने (धर्मकीर्ति ने 'सम्बन्धपरीक्षा' नामक ग्रन्थ में) कहा है—"भाव पदार्थ स्वयम् अमिश्रित (स्वभाव वाले होते) हैं (अर्थात् अचेतन पदार्थों का यह स्वभाव नहीं है कि वे अपनी ओर से प्रयास करके किसी अन्य पदार्थ से अपना सम्बन्ध स्थापित करें) उन्हें कल्पना ही योजित (मिश्रित, परस्पर सम्बद्ध) करती है।" इसी प्रकार 'नील उत्पल' की शाब्दिक

प्रतीयते, न तु वस्त्ववभासिना निरंशोत्पलस्वलक्षणविशेषालम्बनेन[1] प्रत्यक्षेण प्रमाणेन। तथा चाहुः

'संयुज्यन्ते न भिद्यन्ते स्वतोऽर्थाः पारमार्थिकाः।
रूपमेकमनेकं च तेषु बुद्धेरुपप्लवः।। इत्यादि।

न च अनेकस्यानेकतासहभाविनी एकता युज्यते भावाभावरूपत्वेन विरुद्धत्वात्। अनेकस्मादुपादानादेकम् एकस्माद्वा अनेकम् अन्योन्यासंसृष्टमेवात्ममात्रपर्यवसितमुद्भवेत्। यथा विज्ञानसन्ततौ व्यवस्था केषांचित्, तत्र हि शब्दस्पर्शादिज्ञानलक्षणेभ्यः समनन्तरप्रत्ययेभ्य एकमैन्द्रियकं विकल्पज्ञानम्। एकस्माद्वा समनन्तरप्रत्ययात् पश्चापि शब्दादिविषयाणि जायन्ते। या पुनरेकता अनेकता च समानाश्रया सा प्रमाणबाधिता, भावस्य वाभावता; केवलमित्थंरूपयैव अनया कल्पनाप्रतीत्या सांसारिकव्यवहारनिर्वर्तनार्थमर्थाः परस्परव्यावृत्ता अपि कार्यकारणरूपत्वेन अवास्तवेनैव प्रतिपाद्यन्ते। राजपुरुषयोर-

---

कल्पना के द्वारा नील और उत्पल की एकात्मता (विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध) की प्रतीति होती है न कि वस्तु के प्रकाशक, अंशरहित उत्पल के स्वलक्षण-विशेष को ग्रहण कराने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा (उस एकात्मता की प्रतीति होती है)।

जैसा कि कहा गया है—"पारमार्थिक पदार्थ न तो स्वयं जुड़ते हैं और न ही (स्वयं किसी से) अलग होते हैं। उनमें दिखाई देने वाली एकरूपता और अनेकरूपता बुद्धि की क्रीडा मात्र है।" इत्यादि।

अनेक पदार्थों में ऐसी एकता को भी नहीं माना जा सकता जो (एकता) अपने साथ अनेकता को भी रखे क्योंकि वे (एकता और अनेकता) भाव और अभाव की तरह (परस्पर) विरुद्ध हैं। अनेक उपादानों (कारणों) से एक (कार्य) तथा एक उपादान से अनेक (कार्य) एक दूसरे से असम्बद्ध और अपने स्वरूप में ही स्थिर रहने वाले उत्पन्न होंगे। जैसी कि कुछ (विज्ञानवादियों) की विज्ञानसन्तति के बारे में व्यवस्था है। वहाँ (विज्ञानवाद में) शब्द, स्पर्श आदि ज्ञान लक्षण वाले समनन्तर प्रत्ययों से, इन्द्रियप्रत्यक्षात्मक एक विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है। अथवा एक ही समनन्तर

---

१. ख० पु० लम्बनप्रत्यक्षेति पाठः।

न्योन्यं स्वरूपविशेषक्रियैव एवं [1]निरूप्यते स्थाल्यां काष्ठैरित्यादौ च। अत एव प्रतीतिकाल एव सामान्यस्येव सम्बन्धस्याभ्युपगमः। वस्तुस्वरूपविपरीतत्वेन च प्रतीतिस्तद्वदेव भ्रान्तिविषयैव, केवलं बाधप्रवृत्तावपि उपकार्योपकारकस्वरूपविशेषावभाससंलग्नत्वादस्य भ्रमस्यावयविभ्रमस्येवानिवृत्तिः सर्पभ्रमवत्। तत एव भ्रान्तेरप्यस्याः संवृतिसंज्ञया व्यपदेश इति।

तत्रोच्यते प्रतीतिस्तावदनेकैकरूपतायां सम्बन्धाभिधानाय भवद्भिरप्यभ्युपगतैव, येनोक्तम्—

प्रत्यय से शब्दादि विषय वाला पाँच प्रकार का (विकल्पात्मक) ज्ञान उत्पन्न होता है। और जिस एकता तथा अनेकता को समान आश्रय वाली कहा जाता है वह (संभव नहीं है क्योंकि वह प्रमाण से बाधित है अथवा (जैसे) भाव में अभावता (प्रमाण से बाधित) है। इस प्रकार की केवल काल्पनिक प्रतीति के फलस्वरूप ही परस्पर भिन्न पदार्थ भी, सांसारिक व्यवहार के निर्वाह के लिये, अवास्तविक कार्य-कारणरूप से (जुड़े हुए) प्रतिपादित किये जाते हैं। राजा और पुरुष का एक दूसरे से (जो सम्बन्ध है) वह अपने-अपने विशेष प्रकार के स्वरूप वाली क्रिया ही है जिसे इस तरह निरुपित किया जाता है। स्थाली में लकड़ी से (ओदन पकाता है) इत्यादि (उदाहरणों) में भी ऐसा ही है। इसलिये सामान्य की तरह, सम्बन्ध की स्वीकृति भी प्रतीति काल में ही मानी गई है। वस्तु के स्वरुप से विपरीत होने के कारण वह (सम्बन्ध) प्रतीति भी उसी (सामान्य) की तरह भ्रान्ति विषय वाली होती है। भेद केवल यह है कि इस भ्रम की, (अवयवों में) अवयवी व (रस्सी में) सर्प-भ्रम की तरह, निवृत्ति नहीं होती है क्योंकि बाध-व्यवहार के समय भी यह उपकार्य-उपकारक स्वरूप-विशेष से संलग्न होता है। इसीलिये इस भ्रांति का भी संवृति (व्यावहारिक सत्यमात्र के) नाम से उल्लेख होता है।

उक्त प्रसंग में कहा जाता है कि आप (बौद्धों) ने भी सम्बन्ध का विवेचन करने के लिए अनेकरूपता में एकरूपता की प्रतीति को स्वीकार किया ही है तभी तो आपने कहा—"भाव पदार्थ स्वयं

---

१. ख० पु० निदृश्यते इति पाठः।

'इत्यमिश्राः[1] स्वयं भावास्तान्योजयति कल्पना ।' इति ।

कल्पनारूपत्वं च नास्या दोषः । घटोऽयं पटोऽयमित्यपि विकल्पः कल्पनैव । अथात्र प्रत्यक्षावभासोऽपि[2] तथा घटपटादिरूप एवेति न कल्पनात्वम् । इहापि राज्ञः पुरुषः स्थाल्यामोदन इत्यादावपि प्रत्यक्षावभासो न तथेति कुतोऽवगतम् । अवश्यमेव च प्रत्यक्षावभासोऽप्यत्र तथैवाभ्युपगन्तव्यः, अभ्युपगत एव वा भवद्भिः येनोक्तम् अर्थाकारप्रतिभाससंलग्नत्वाद्बाधकेनापि दुरुद्धरोऽयं भ्रमः' इति । न हि अर्थप्रतिभाससंलग्नत्वाद्बाधकेन अपि त्वर्थप्रतिभाससादृश्यसद्भावमात्रात् । रजतभ्रमेऽपि शुक्तिकासादृश्यसद्भावोऽप्यस्त्येव, [3]सादृश्यविषया एव हि सर्वा भ्रान्तयः सादृश्यव्यतिरेकेण चान्या अर्थ-

ही मिश्रण के स्वभाव वाले नहीं होते । उन्हें कल्पना जोड़ती है (परस्पर सम्बद्ध करती है) ।''

इस (प्रतीति) का कल्पनारूप होना दोष नहीं है । क्योंकि (आप बौद्धों के मत में तो) यह 'घट है', 'यह पट है' इत्यादि विकल्पात्मक ज्ञान भी कल्पना ही है । यहाँ यदि यह कहा जाए कि यहाँ (सम्बन्ध का) प्रत्यक्षात्मक ज्ञान भी उसी तरह का है जैसा कि घट, पट आदि का होता है और (जैसे घट, पट का ज्ञान विशुद्ध कल्पना नहीं है उसी प्रकार) यह (सम्बन्ध का अनुभव भी) कल्पना मात्र नहीं है । यहाँ (सम्बन्ध के उदाहरणों में जैसे) 'राजा का पुरुष' 'स्थाली में ओदन' इत्यादि में भी वैसा (कल्पनारूप) प्रत्यक्षाभास नहीं है ऐसा आपने कैसे जाना ? वास्तव में यहाँ भी वैसा ही प्रत्यक्षाभास माना जाना चाहिये । अथवा (कहें) आपने वैसा माना भी है तभी तो कहा कि—'पदार्थ के स्वरूप-प्रतिभास से जुड़े होने के कारण, बाधक ज्ञान से भी यह भ्रम कठिनाई से दूर होता है । अर्थ-प्रतिभास से जुड़ा होने के कारण बाधक (ज्ञान) से नहीं, वल्कि केवल अर्थ प्रतिभास की सदृशता (समानता) की उपस्थिति के कारण यह भ्रम दूर नहीं होता है । रजत के भ्रम में (शुक्तिका के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर) भी शुक्तिका से (रजत का) सादृश्य तो

१. ख० पु० इत्यसिद्धा इति पाठः ।
२. ख० पु० औभास इति पाठः ।
३. ख० पु० सदृशेति पाठः ।

प्रतिभाससंलग्नतयैव युक्ताः, यदर्थप्रतिभासशरीरमेवंभूतमेव [1]एवंरूपेणैव व्यवहारयित्रा विकल्पेन व्यवहारयितुमुपन्नम्, अन्यथाभूतीकृते एव अर्थाभासे परस्परस्वरूपाननुप्रविष्टस्वात्ममात्रपर्यवसितार्थनिष्ठतामापादिते यदि परमयं संबन्धविकल्पः सामान्यादिविकल्पवन्निवर्तेत नान्यथा। न च विकल्पोऽर्थप्रतिभासाद्भिन्नः, निर्विकल्पत्वदूषणादीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्।

एवं 'राज्ञः पुरुष' इत्यादाववभास [2]एवानेकस्यैकात्मताप्रथारूपोऽभ्युपगन्तव्यः स्थूलप्रतिभासवत्, स तूपपद्यते न वेत्येतावद्विचार्यते,—तत्र चिन्मात्ररूपस्यैव पारमार्थिकस्य वस्तुनो विश्वात्मता। तस्यैव चिन्मात्रस्य मायाशक्तिप्रभावादभेदाख्यात्युत्थापनेन विश्वस्य

उपस्थित रहता ही है। क्योंकि सभी भ्रान्तियाँ सादृश्य को आधार बनाने वाली होती हैं। जो प्रतीतियाँ सादृश्य से रहित होती हैं उन्हें पदार्थ के प्रतिभास से जुड़ा हुआ अर्थात् वास्तविक प्रतीतियाँ ही मानना चाहिये। व्यवहार करने वाले (लौकिक पुरुष) को इस प्रकार के विकल्पात्मक ज्ञान के साथ ही व्यवहार करना चाहिये कि पदार्थ के प्रतिभास का स्वरुप ऐसा ही है। अर्थाभास को अन्य प्रकार से स्वीकार करने पर, दो पदार्थों के आपस में एक दूसरे के स्वरूप में प्रविष्ट न हो पाने तथा पदार्थ के आत्मस्वरुप में अवस्थित होने के कारण सम्बन्ध का यह विकल्प (ज्ञान), सामान्य आदि (अन्य) विकल्पों (ज्ञानों) की तरह, निवर्तित (बाधित) हो जाएगा, अन्यथा नहीं होगा। विकल्पात्मक ज्ञान पदार्थ के प्रतिभास से भिन्न नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर निर्विकल्प ज्ञान दूषित हो जाएगा—ऐसा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है।

इस प्रकार 'राजा का पुरुष' इत्यादि में भी, (घट, पट आदि) स्थूल आभास की तरह, अनेक में एकतारूप अवभास स्वीकार करना चाहिये। अब आगे यह विचार किया जाता है कि वह (अनेक में एकतारुप आभास) सिद्ध होता है या नहीं। वहाँ चिन्मात्ररूप पारमार्थिक वस्तु की ही विश्वात्मता है। उसी चिन्मात्र (शिव) की

१. ख० पु० एकेति पाठः।
२. ख० पु० वेद्यतेति पाठः।

तत्त्वभूतभुवनाद्यात्मवैचित्र्येणान्योन्यविभक्तता,–इनीश्वरप्रत्यभिज्ञायां
विस्तरेण प्रतिपादितम्,—इति तत एव परीक्ष्यं नेहोपन्यस्यते ।
अस्मिमश्चार्थे सिद्धे नैकैकतारूपः संसार एव संबन्धशब्दार्थानु-
प्रविष्टः,—इति नास्त्येवात्र दीनता, केवलमियद्विमृश्यते—यदेक-
चिन्मात्ररूपत्वेनानेकात्मनो वस्तुभेदस्यैक एव सम्बन्धः स्यात् य
एव राजपुरुषयोः स एव पितापुत्रयोः स्थाल्यादीनां चेति, अने-
कश्चेष्यते । तदत्राप्युच्यते – स्यादेक एव सर्वेषामिति । यद्येकता-
मात्रमेव सम्बन्धः स्यात्, यावतानेकतांशादंशेनैकता सम्बन्धः । ततश्च
राजपुरुषोपरक्तैकतान्यः सम्बन्धः पितापुत्रोपरागोपलक्षणविलक्षण
एव । अत एव मायादशायामेवाख्यातिभेदप्रधानायां सम्बन्धपदार्थ-
सद्भावः । विश्वात्मतायां पुनः पूर्णैकतैव न तु सम्बन्धार्थः कश्चित् ।

माया शक्ति के प्रभाव से, भेदात्मक अज्ञान के फलस्वरूप, विश्व के भूत
भुवनादि तत्त्वों में (परस्पर) विचित्रता है और इसीलिये उनमें एक
दूसरे से भिन्नता है—ऐसा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका में विस्तार से प्रतिपादित
किया गया है, इस विषय का परीक्षण वहीं किया जाना चाहिये और
इसीलिये उसका यहाँ विस्तार नहीं किया जाता है। इस (उक्त) सिद्धान्त
के सिद्ध होने पर (यह भी सिद्ध है कि) संसार अनेकता में एकतारूप
है और (अनेकता में एकतारूप) सम्बन्धार्थ भी इसी में अनुगत है।
इसलिये इस सिद्धान्त में कोई दुर्बलता नहीं है। (प्रस्तुत प्रसंग में) केवल
इतना ही विचारणीय है कि एकमात्र चिन्मात्रता के कारण और वस्तुभेद
की अनेकता के कारण एक ही सम्बन्ध होना चाहिये—जो (सम्बन्ध)
राजा व पुरुष में है वही (सम्बन्ध) पिता और पुत्र में है तथा स्थाली
आदि में है (इस रूप में एक) अथवा अनेक होना चाहिये। तो यहाँ भी
(वही बात) कही जाती है कि सब का सम्बन्ध एक ही हो तो क्या हानि
है ? यदि एकता मात्र सम्बन्ध है तो जितने अंशों में एकता है उतने में ही
अंश से अंश का एकतारूप सम्बन्ध भी है और तभी राजा और पुरुष
से उपरंजित एकता अन्य सम्बन्ध होगा और पिता व पुत्र से उपरक्त
एकता उससे विलक्षण (सम्बन्ध) होगा। इसलिये अज्ञानरूप भेद प्रधान
माया दशा में ही सम्बन्ध नामक पदार्थ की सत्ता है। और (जहाँ तक पूर्ण)
विश्वात्म दशा (का प्रश्न है उस) में तो पूर्ण एकता ही होती है न कि

तत्रापि कदाचित्परापरदशायामपरभागापेक्षणाद्गौणवृत्त्या सम्बन्धार्थः सम्भवेत् उपकार्योपकारकयोरेव च विशिष्टयोः सम्बन्धः विशिष्ट-रूपः, स च प्रतिपादनीयोऽवश्यमेव, तदप्रतिपादने तयोरुपकार्यो-पकारकयोः क्रमिकयोर्यौगपद्येन प्रतीतिर्हानोपादानार्थमन्यथा न घटेत, ततश्च व्यवहारलोपः स्यात्। न चोपकार्योपकारकयोरपि स्वाधीनः कश्चिदुपकारार्थः,–इत्यपीश्वरप्रत्यभिज्ञायामेव विस्तारितम्। ततश्च चिन्मयेश्वरेच्छैव सा तादृशी [1]यया पदार्थौ तौ तथोपकार्योपकारकौ भवत इति तल्लग्नयोरेव तयोर्द्वयोर्द्वयोरर्थयोः क्रमिकयोरपि एकबुद्-ध्युपारूढयोरेकपरामर्शात् तयोरेवान्यरूपयोर्यौगपद्येन प्रकाशनं व्यव-हारसिद्धये तदिच्छयैव विधीयते,–इति न काचित्खण्डना।

स च सम्बन्धो द्वयोरेव भवति न बहूनाम्। बहूनां हि किमेकैक

सम्बन्ध (जैसा कोई) पदार्थ होता है। वहाँ परापर दशा में अपर भाग की अपेक्षा से, गौणभाव से शायद कभी सम्बन्ध पदार्थ की सत्ता हो। विशिष्ट उपकार्य और (विशिष्ट) उपकारक का सम्बन्ध (भी) विशिष्ट-रूप वाला ही होता है। उसका प्रतिपादन अवश्य ही किया जाना चाहिये। उसके प्रतिपादन के बिना क्रमवाले उन उपकार्य और उपकारक की हानोपादान के लिये एक साथ प्रतीति होती है अन्यथा वह प्रतीति घटित (सिद्ध) नहीं होगी और (उस प्रतीति की सिद्धि के बिना) तब व्यवहार का लोप हो जाएगा। उपकार्य और उपकारक का कोई स्वतंत्र उपकारार्थ नहीं है—क्योंकि शैव दर्शनानुसार वे शिव की इच्छा के अधीन हैं—यह भी ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा में विस्तार से कहा गया है। और चिन्मय ईश्वर की वह इच्छा ही वैसी है जिसके द्वारा दो पदार्थ उपकार्य व उपकारक बनते हैं। उस (शिवेच्छा) से सम्बद्ध, उन दोनों पदार्थों (उपकार्य व उपकारक) के क्रमिक होते हुए भी एक प्रतीति में आरुढ़ होने पर अर्थात् उन दोनों के एक ज्ञान का विषय होने के कारण अन्तिम रूप वाले उन दोनों की ही सिद्धि के लिये उस ईश्वर की इच्छा से ही उनका एक साथ प्रकाशन होता है। इस तरह इस सिद्धान्त का कोई खण्डन नहीं है।

वह सम्बन्ध दो का ही होता है, अनेक का नहीं। (प्रश्न उठता है कि) अनेक पदार्थों में अगणित अन्य (पदार्थों) के साथ (वह सम्बन्ध) अलग-अलग

१. ख० पु० ययेति पाठः।

स्यान्यैरनेकसंख्यैर्युगपदेव किं वा बहूनां मध्ये एकस्य एकैकेन। तत्र यद्येकैकस्यानेकसंख्यैस्तत्किं तेऽनेकसंख्या एव एकपरामर्शगोचराः। अथानेकपरामर्शविषया[1] राज्ञः पुरुषः राज्ञो हस्त्यश्वरथपदातय इति। द्वन्द्वेऽपि हस्त्याद्यनेकत्वेऽपि परामर्शस्यैक्यात् द्वन्द्वाख्यः शब्द एव, हस्त्यादिशब्दा वर्णतुल्याः। एकपरामर्शस्थितो हि शब्द एको भवति। तदेकशब्दाध्यासादर्थोऽप्येक एव। अत एव वस्तुशब्द-बुद्धय एता,–इति द्वन्द्वार्थस्यैकस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् तद्विशेषो नोपात्त एव। एतच्छब्दः स्त्रीलिङ्ग एव भवति, न तु[2] 'एता' इत्येकशेषनिर्देशोऽयं येन नपुंसकैकशेषः स्यात्। बहुवचनं चात्र दारा इतिवदवयवाद्यपेक्षया,–इत्येवमत्र द्वयोरेव सम्बन्धः। इह तु राज्ञो हस्ती चाश्वश्च रथश्च पदातिश्च,–इत्यनेकपरामर्शविषयत्वेऽपि यावन्तो

होता है अथवा एक साथ होता है अथवा अनेक पदार्थों में प्रत्येक (पदार्थ) का प्रत्येक (पदार्थ) से होता है। उक्त पक्षों (विकल्पों) में यदि प्रत्येक का अनेक संख्या वाले के साथ सम्बन्ध होता है तो (फिर प्रश्न उठता है कि) वे अनेक संख्या वाले अर्थात् अनेक पदार्थ ही एक ज्ञान के विषय बनते हैं अथवा 'राजा का पुरुष', 'राजा के हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, इत्यादि रूप में अनेक ज्ञान के विषय बनते हैं। द्वन्द्व समास में भी, हाथी आदि के अनेक होते हुए भी, ज्ञान के एक होने के कारण शब्द ही द्वन्द्वरूप होता है और हाथी आदि शब्द वर्ण के प्रतिनिधि हो जाते हैं। एक ज्ञान में स्थित शब्द भी एक ही होता है। उस (परामर्श) के एक शब्द में अध्यस्त होने के कारण (उस शब्द का) अर्थ भी एक ही होता है। इसीलिये 'ये वस्तु, शब्द, बुद्धियाँ हैं' इस एक द्वन्द्वार्थ (एता इस रूप में) के स्त्रीलिंग होने के कारण उनके वैशिष्ट्य का ग्रहण नहीं होता है। उपर्युक्त समास में प्रयुक्त 'एता' यह शब्द स्त्रीलिंग में ही है। अतः 'एता' यह एकशेष का निर्देश है, नपुंसक एकशेष का नहीं। यहाँ अवयव आदि की अपेक्षा से 'दारा' की तरह बहुवचन है।—इस प्रकार यहाँ (पदार्थों के अनेक होने पर भी) दो का ही सम्बन्ध है। यहाँ तो राजा का हाथी और घोड़ा और रथ और पैदल—इस प्रकार (अलग-अलग) अनेक ज्ञानों के

१. क० पु० विषया एकपरामर्शविषया इत्यधिकः।
२. ख० पु० नन्विति पाठः।

हस्त्यादीनां परामर्शास्तावन्त एव राज्ञः,–इति तत्समुच्चयार्था एव चशब्दाः। अन्यथा चशब्दस्याभावे राज्ञ इत्यनुकर्षणं विना हस्तीत्यनेन सहैकपरामर्शनिमज्जनैकीभूते राज्ञि परतन्त्रे पुनर्विवेकमनापाद्यमाने केन सहाश्वादीनां सम्बन्धः स्यात् ततश्चोपचारेण हस्त्यादीनां सामानाधिकरण्यं प्रतीयते। अथवा[1] सामर्थ्याच्चशब्दाभावेऽपि समुच्चयप्रतीतौ एकैकं स एव सम्बन्धो हस्त्यादीनामन्योन्यमपि च सत्ताक्रियां प्रति समुच्चीयमानतासम्बन्धश्च शब्देनावद्योत्यते। अर्थप्रतिभासोऽपि चायमित्थं स्थितोऽयमन्यथेति नापरामृष्टो व्यवस्थापयितुं शक्यते परामर्शविरहितस्य प्रतिभासस्यासंभवादेव। न हि मार्गगतिप्रवृत्तस्यापि पार्श्ववर्तितृणादिवस्तुस्पर्शरूपादिप्रतिभासाः परामर्शरहिताः सत्त्वेनाभ्युपगन्तुं पार्यन्ते स्मर्यमाणत्वाभावात्। नापि तेषां तदा चक्षुरादिकारणसामग्रीसद्भावेनानुमानसिद्धा सत्ता युज्यते

होते हुए भी, जितने हाथी आदि के परामर्श हैं उतने ही राजा के भी हैं— इसीलिये 'और' (च) शब्द का प्रयोग, उनके समुच्चयार्थ को बताने के लिये किया गया है। अन्यथा 'और' (च) शब्द के न होने पर, 'राजा का' ऐसी अनुवृत्ति के बिना, 'हस्ति' इस शब्द के साथ परतंत्र राजा के एक परामर्श में विलीन हो जाने पर, तथा उन (राजा और हस्ति) में फिर विवेक न रह जाने पर अश्व आदि का किसके साथ सम्बन्ध होगा! अतः (मानना होगा कि) हाथी, आदि का सामानाधिकरण्य, उपचार के कारण प्रतीत होता है। अथवा 'और' (च) शब्द के बिना भी हाथी आदि की समुच्चय प्रतीति में सामर्थ्य के कारण ('च' का प्रयोग न होने पर भी उसका भाव शब्दों की सामर्थ्य से ग्रहण कर लिया जाता है) प्रत्येक के साथ एक दूसरे का वही सम्बन्ध है और सत्ता क्रिया के प्रति समुच्चयभाव का प्रकाशन भी सम्बन्ध शब्द से होता है। अर्थ का यह प्रतिभास भी इसी प्रकार स्थित है। यह अन्य प्रकार से (स्थित) है—ऐसा परामर्श न होने से, स्थापित (सिद्ध) भी नहीं किया जा सकता है क्योंकि परामर्श (ज्ञान) से रहित प्रतिभास की सत्ता संभव नहीं है। मार्ग में चलने वाले पुरुष के प्रसंग में पास में पड़े स्पर्शरूपादि प्रतिभास ज्ञान-रहित होते हैं क्योंकि वहाँ स्मर्यमाण का अभाव है। और उस समय चक्षु आदि

१. ख० पु० अथ वासेति पाठः।

मनोवधानाभावात् । तद्भावेऽवश्यंभावी तदानीं तृणादिपरामर्श इदानीं च स्मरणम् । एतच्च प्रत्यभिज्ञायां निर्णीतम् ।

एवं च विमर्शमय एवार्थप्रतिभास उपपन्नः । विमर्शश्च यथाग्निर्धूमे इति भवति, तथा संस्कृतस्य प्रमातुरस्य धूमस्याग्निः कारणमस्य धूमः कार्यमित्यपि भवति,--इत्येवमेकात्मतापत्तिपर्यन्तोऽवभासनव्यापारोऽर्थेषु ज्ञानानां, न तु परस्परासंलग्नता प्रकाशमात्रात्परिसमाप्यते ।

परस्परविशेषणविशेष्यभावपरामर्श एवानेकतारूपसम्बन्धपरामर्शः । एकपरामर्शव्यापाराविष्ट एव सांसारिकव्यवहारेषु मायीयः प्रमाता न तदानीमेव परामर्शान्तरस्पर्शमप्यर्हति चिदैक्याख्यातिभेदनिबन्धनविकल्पनपरामर्शात्मकत्वान्मायाप्रमातृणामि-

---

के रूप में (प्रत्यक्ष) ज्ञान की कारण-सामग्री के रहते हुए उन (तृणादि) की सत्ता की अनुमान से सिद्धि भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि वहाँ मन के ध्यान का अभाव है। यदि वहाँ मन का अवधान होता तो उस समय तृण का स्पर्श और इस समय उस (स्पर्श-परामर्श) का स्मरण अवश्य होता। इस विषय का निर्णय भी (ईश्वर) प्रत्यभिज्ञा (ग्रन्थ) में किया गया है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अर्थ का प्रतिभास विमर्शमय ही है। और जैसे धूम में अग्नि का विमर्श होता है उसी प्रकार (ज्ञानरूप) संस्कार से सम्पन्न प्रमाता में भी विमर्श होता है कि इस धूम का अग्नि कारण है और इस (अग्नि) का कार्य धूम है। इस प्रकार पदार्थों में ज्ञानों का प्रकाशन-व्यवहार तब तक होता रहता है जब तक (ज्ञाता व ज्ञान में) एकात्मता की प्रतीति नहीं होती। पदार्थों की परस्पर विच्छिन्नता, प्रकाशन मात्र से (में) समाप्त नहीं होती है अर्थात् पदार्थों को प्रकाशित मात्र कर देना ज्ञान का प्रमुख प्रयोजन नहीं है अपितु ज्ञाता से ज्ञान की ऐक्यानभूति ही ज्ञान का प्रमुख लक्ष्य है।

परस्पर विशेषण विशेष्यभावरूप परामर्श ही अनेकता में एकतारूप सम्बन्धपरामर्श है। मायीय प्रमाता सांसारिक व्यवहारों में एक परामर्शरूप व्यापार से ही सम्पन्न होता है। उस समय वह अन्य परामर्श को छूने योग्य भी नहीं होता है। क्योंकि उस समय वह माया प्रमाताओं के चिदैक्य के विकल्पनव्यापार से सम्पन्न होता है। इस विषय का विस्तार भी 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा'

त्येतदपि ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामेव प्रपञ्चितम्। व्यवहारे राजा पुरुषो वा प्राधान्येन जिज्ञासितः प्रतिपिपादयिषितश्च भवेदिति स एव विशेष्य उच्यते परश्च विशेषणमित्यत्रापि न काचित्क्षतिः। द्वयोश्चैक्येऽपि विशेषणं विशेष्यीकृतस्वरूपं विशेष्यात्मना चकास्ति स्वरूपेणापि चावभाति 'राज्ञः पुरुष' इति। 'राजपुरुष' इति तु विशेषणभूतो राजा सर्वथा परिहारितस्वरूपो विशेष्यात्मतामेवैकान्तेनापन्नः प्रथते,--इति न तत्र सम्बन्धवाचोयुक्तिः। नीलमुत्पलमित्यत्रापि उत्पलान्तःप्रविष्टं नीलमिति नीलवदुत्पलं प्रधानम्। स्थाल्यां काष्ठैरित्यत्रापि कर्त्राश्रितां क्रियामुपलीनाः स्थाल्यादयः प्रकाशन्ते। 'घटस्याभाव' इत्यत्रापि अभावो विकल्पबुद्धावन्तर्नीतघटः प्राधान्येनावभाति। 'अयमस्मादन्य' इत्यन्यार्थोऽन्यत्वापरित्यागेनैवान्तर्नीतापरान्यार्थो विशेष्य इति। एवं सर्वत्रानुमन्तव्यम्।

क्रियाकारकसम्बन्धे[1] तात्कालिकोपकार्योपकारकभावमयसम्बन्धाभासः, शेषसम्बन्धे तु स्मर्यमाणोपकारमयः स्मरणावस्थायामपि

(ग्रन्थ) में किया गया है। व्यवहार में राजा अथवा पुरुष जो भी प्रधानरूप से जिज्ञासा और प्रतिपादन की इच्छा वाला हो वही विशेष्य कहा जाता है तथा अन्य (गौण) विशेषण कहा जाता है। अतः ऐसा मानने पर सिद्धान्त की कोई हानि नहीं है। दो में एकता हो जाने पर भी विशेषण अपने स्वरूप को विशेष्यीकृत अर्थात् विशेष्य के रूप में प्रकाशित करता है तथा साथ ही अपने स्वरूप में भी प्रकाशित होता है जैसे राजा का पुरुष (इस उदाहरण में)। राजपुरुष में विशेषणभूत राजा अपने स्वरूप को पूरी तरह छोड़ते हुए पूर्णतया विशेष्यतारूप में ही प्राप्त होकर प्रकाशित होता है—अतः यहाँ सम्बन्ध-बोधिका वाणी से प्रतिपादित युक्तिमात्र ही नहीं है। 'नील उत्पल' इस उदाहरण में भी उत्पल के अन्दर नील वर्ण प्रविष्ट है। अतः नील की तरह उत्पल भी प्रधान है। 'स्थाली में लकड़ी से' इस उदाहरण में भी स्थाली आदि कर्ता पर आश्रित क्रिया में लीन होकर ही प्रकाशित होते हैं। 'घट का अभाव' इस उदाहरण में भी विकल्पबुद्धि में अन्तर्निविष्ट घट ही मुख्यरूप से प्रकाशित होता है। 'यह इससे भिन्न है' इस उदाहरण में भी अन्यार्थ अपने अन्यत्व को छोड़े बिना ही

१. ख० पु० संभिन्न इति पाठः।

च पूर्वदृष्टार्थावभास एव परामर्शैक्यादित्युक्तम्। न, केवलं च सम्बन्धमयैकतास्पर्शिपरिमितमायामातृपर्यवसायी वस्तुप्रकाशनव्यापारो, यावदनन्तचिन्मयशिवतावभासविश्रान्तैव प्रतिक्षणं वस्तुसंवित्क्रिया। न च संविदः क्रमोऽस्ति एकैवैकत्रैव क्षणेऽर्थप्रकाशना। सैव सम्बन्धशिवतामयमेव स्वरूपमाविष्करोति,—इत्युच्यते। तथा चाचार्यधर्मकीर्तिः—

बहिर्मुखं च तज्ज्ञानं [1]भात्यर्थप्रतिभासवत्।
बुद्धेश्च ग्राहिका बुद्धिर्नित्यमन्तर्मुखात्मनि॥ इति।

अन्तर्मुखेति, आत्मनीति च स्वसंवेदनमर्थाभासशून्यमपृथग्भूतं चोक्तम्। तथा प्रत्यभिज्ञायामुक्तम्—

दूसरे अन्यार्थ को अपने में समाविष्ट करते हुए विशेष्य बनता है। इसी तरह (अन्य) सभी उदाहरणों में समझना चाहिये।

क्रिया और कारक के सम्बन्ध में तात्कालिक उपकार्य-उपकारकभाव से युक्त सम्बन्ध का आभास होता है और राजा का पुरुष इत्यादिरूप शेष-(षष्ठी से सूचित) सम्बन्ध के प्रसंग में परामर्श की एकता के कारण स्मरणावस्था में भी स्मर्यमाण उपकारमय सम्बन्धाभास और पहले देखे गये पदार्थ का प्रकाशन होता है—यह कहा गया है। और सम्बन्धमयी एकता का स्पर्श करने वाला तथा परिमित मायीय प्रमाता में परिसमाप्त होने वाला केवल यह वस्तुप्रकाशनव्यवहार ही नहीं हैं क्योंकि अनन्त चिन्मय शिवत्व के अवभासन में विश्रान्त रहने वाली वस्तु की ज्ञानात्मक क्रिया प्रतिक्षण होती रहती है। संवित् में क्रम नहीं है। एक ही संवित् एक ही स्थान व क्षण में पदार्थ को प्रकाशित करती रहती है। वही (संवित्) सम्बन्धशिवता वाले स्वरूप का प्रकाशन करती रहती है—ऐसा कहा जाता है। ऐसा ही आचार्य धर्मकीर्ति ने (प्रमाणवार्तिक, २. ४२८ में) कहा है—

'जो ज्ञान बहिर्मुख होता है वह पदार्थ के प्रतिभास की तरह (प्रकाशित) होता है (अर्थात् वस्तु के प्रकाशन क्षण में ज्ञान बहिर्मुख होता है) और (उसी) ज्ञान का ग्रहण करने में बुद्धि नित्य ही अन्तर्मुख स्वरूप वाली होती है।'

'अन्तर्मुख' और 'आत्मस्वरूप में अर्थात् अर्थाभास से रहित व अभिन्न स्वसंवेदन-ऐसा कहा गया है। उसी प्रकार ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (१.७.१.) में

१. ख० पु० भावार्थेनि पाठः।

'या चैषा प्रतिभानन्तपदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥' (ई० प्र० १।७।१)

इत्येतत्तत्रैव वितत्य प्रदर्शितम् । यदप्युक्तं 'प्रतीतिकाल एव सामान्यस्येव सम्बन्धस्याभ्युपगम' इति, तन्न केवलमस्य यावत्सर्वस्यैवार्थस्य बोधबहिर्भूतस्य कस्यचिदभावात् । सामान्यं चैकमनेकमयं बहिरपि पृथगेव सामान्यनिकुरम्बरूपेभ्यः [1]स्वलक्षणेभ्यः । तच्चैकेनैव शब्देनानियतस्वलक्षणाश्रयत्वेन प्रतिपाद्यते, तच्च कल्पितस्वलक्षणसम्बन्धमेकशब्दप्रतिपाद्यमेव गौरिति । अत एव समवायाख्यः सम्बन्ध उच्यते । सामानाधिकरण्येऽपि द्वयोरेकनिष्ठता । तत्र चैकं तद्वस्तु अस्तिवाक्यप्रतिपाद्यं नीलमुत्पलमिति । सम्बन्धः पुनर्द्वयोर्विशेष्यैक्यता न त्वेवं वस्त्वन्तरं प्रकाशते,—इत्ययं विशेषः । सामानाधिकरण्येऽपि

भी कहा गया है—'अनन्त पदार्थों के क्रम से जो प्रतिभा कही गई है वह क्रम–रहित है और वही अनन्त चिद्रूप प्रमाता महेश्वर है ।

इस प्रकार इस विषय को वहीं विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया है । और यह जो कहा गया है कि सामान्य की तरह सम्बन्ध का ग्रहण भी प्रतीति काल में ही होता है वह केवल इसके लिये ही नहीं कहा गया अपितु यह बात सब पदार्थों पर लागू होती है । क्योंकि ज्ञान से बाहर किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है । सामान्य एक और अनेकरूप होता है और साधारण समूहरूप स्वलक्षणों से, बाह्य होने पर भी, भिन्न ही होता है । और वह एक ही शब्द से जो कि अनियत स्वलक्षण के आश्रयवाला हो, प्रतिपादित किया जाता है क्योंकि वह (पूर्व सूचित सामान्य) कल्पित स्वलक्षण सम्बन्ध एक शब्द से ही प्रतिपादन के योग्य है जैसे गौ । इसीलिये समवाय नामक सम्बन्ध माना जाता है । सामानाधिकरण में भी दो (पदार्थों) की एक (आधार) में अवस्थिति होती है । उसमें वस्तु एक ही होती है जिसे 'है' (अस्ति) ऐसे वाक्य से प्रतिपादित किया जाता है जैसे नील उत्पल । सम्बन्ध तो दो (पदार्थों, सम्बन्धियों) में विशेष प्रकार की एकता है किन्तु इस एकता के बावजूद भी वह वस्तु किसी दूसरी वस्तु के रूप में प्रकाशित नहीं होती यही इस (सम्बन्ध) का (सामानाधिकरण्य से) भेद है । अथवा सामानाधिकरण्य में भी

१. ख० पु० लक्षणः इति पाठः ।

वा नीलमुत्पलमिति विशेष्योत्पलनिष्ठतैवेति सम्बन्धतैव । सामान्याद्भ्रान्तिविषयः सम्बन्धः,—इत्यपि यदुक्तं तदप्यत्यल्पमुक्तम् । विश्वमपीदं चिदभेदाख्यातिमयभ्रान्तिपदमेव । भ्रान्तावपि चास्यां पुनः स्वप्नद्विचन्द्रादिवद्भ्रान्तता नास्ति संवादादिति सर्वमेतन्निर्णीतं टीकायाम् । तदेवं पूर्णचित्स्वरूपपर्यालोचनाक्षमास्तावन्मात्राभिनिवेशेन सम्बन्धपदार्थप्रत्याख्यानकारिणोऽसम्बद्धाभिधायिन इति ।

तदाह्—

अपेक्षा पारतन्त्र्यं च न संबन्धो जडात्मनोः ।
असंभवादात्मलाभेऽप्युपचारो न लक्षणा ॥ ३ ॥
असतामात्मलाभोक्तेर्द्विष्ठतैवं च हीयते ।
रूपसंश्लेष एवैवं संबन्धार्थः स्थितः स च ॥ ४ ॥

सम्बन्धता ही है जैसे कि नील उत्पल के उदाहरण में विशेष्यरूप उत्पल में (विशेषण नील का) रहना ही सम्बन्ध है । 'सामान्य (की तरह) होने के कारण सम्बन्ध भ्रान्ति का विषय होता है' यह जो बात कही गई वह बहुत कम ही कही गई है । क्योंकि यह (समस्त) विश्व ही चिद् अभेद के अज्ञान से युक्त भ्रान्ति का स्थान ही है । (सम्बन्धरूप) इस भ्रान्ति में भी संवाद के कारण स्वप्न, द्विचन्द्र आदि की तरह भ्रान्तता नहीं है- यह सब (प्रत्यभिज्ञा) टीका में निर्णय किया गया है । तो इस प्रकार सम्बन्धरूप पदार्थ का खण्डन करनेवाले समस्त वचन असम्बद्ध हैं, अनुचित हैं तथा पूर्ण चिद्रूप के पर्यालोचन में असमर्थ हैं क्योंकि वही उनके (विचार-विश्लेषण) की सीमा है । उसी को कहा है—

दो अचेतन (पदार्थों) में अपेक्षा और परतन्त्रतारूप सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह असंभव है । स्वरूप-लाभ के लिये मान लेने पर भी वह (अपेक्षादि सम्बन्ध) औपचारिक मात्र ही हो सकता है, लाक्षणिक नहीं ॥ ३ ॥

असत् (पदार्थों) के आत्मलाभ को कहने से तो इस प्रकार द्विष्ठता की हानि ही होगी और वह सम्बन्ध पदार्थ, रूपसंश्लेष के रूप में ही सिद्ध है ॥ ४ ॥

नानन्तर्यमसंबन्धात्तथात्वेऽयःशलाकयोः ।
तेनानेकस्य रूपस्य श्लेष ऐकात्म्यमेव सः ॥ ५ ॥
नैकस्यैक्येऽप्यनेकस्य बाध आहुर्यथा परे ।
इत्यमिश्राः स्वयं भावास्तान्योजयति कल्पना ॥ ६ ॥
यतो न कल्पनामात्रं तावदेतदवारणात् ।
सर्पभ्रान्तेरिवाभासलग्नत्वात्तन्निवारणम् ॥ ७ ॥
यस्मादाभासलग्नत्वं नाभासदृशार्थता ।
किं त्वाभासानुसारित्वं भ्रान्त आभास एव तत ॥ ८ ॥
इत्थमाभास एवास्मिन्ननेकस्यैकतादृशि ।
वाच्योपपत्तिः साप्युक्ता प्रत्यभिज्ञानये स्फुटम् ॥ ९ ॥

आनन्तर्य (निरन्तरता) सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि वैसा मानने पर (असम्बद्ध) दो लौह-शलाकाओं में भी सम्बन्ध हो जाएगा। इसलिये वह (सम्बन्ध) अनेकरूप का एकात्मतारूप श्लेष (सम्बन्ध) ही है ॥ ५ ॥

एक (पदार्थ) का ऐक्यरूप और अनेक (पदार्थों) का एकतारूप (सम्बन्ध) नहीं होता है; जैसा कि अन्य ने (सम्बन्धपरीक्षा प्रकरण में धर्मकीर्ति ने) आपत्ति के रूप में कहा है कि भाव पदार्थ स्वयं ही मिश्रण (के स्वभाव) वाले नहीं होते, उन्हें कल्पना ही मिश्रित करती है ॥ ६ ॥

चूंकि यह (सम्बन्ध सरलता से शीघ्र ही) निवारण के योग्य नहीं है इसलिये यह केवल कल्पना (भी) नहीं है। (पदार्थों) के प्रकाशन से जुड़े होने के कारण इस (भ्रम) का निवारण सर्प की भ्रान्ति की तरह है ॥ ७ ॥

क्योंकि यह (सम्बन्ध) आभासन से जुड़ा होता है इसलिये इसमें आभास के समान वस्तुत्व नहीं है किंतु आभास की अनुसारिता है (अर्थात् इसमें आभास के कतिपय गुणों से समानता है)। अतः वह भ्रान्त आभास ही है ॥ ८ ॥

इस प्रकार इस (सम्बन्ध) में अनेक में एकतारूप आभास ही है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में (सम्बन्ध की) वह सिद्धि वाच्यार्थ के रूप में स्पष्ट कही गई है ॥ ९ ॥

एवं च सति वस्तूनां चिन्मात्रवपुषां सताम् ।
मायानिर्मितभेदानामप्येकत्वमदुर्घटम् ॥ १० ॥
तत्रापि यः परामर्शविषयो लौकिकस्य सः ।
चिदभेदप्रथारूपभेदसारस्य वेदितुः ॥ ११ ॥
व्यापारोऽनेन रुद्धोऽसौ न विकल्पान्तरं स्पृशेत् ।
विकल्पान्तरसंस्पर्शे मातृभेदप्रसङ्गतः ॥ १२ ॥
तदेकामर्शवर्त्येकशब्दाध्यासवशाद्व्रजेत् ।
अनेकोऽप्येकतामर्थो यथा घटपटाविति ॥ १३ ॥
इत्यस्ति तावदन्यश्च विशेषणविशेष्ययोः ।
संबन्ध उपकारार्थः स ज्ञातुमुपयुज्यते ॥ १४ ॥
बहुत्वेऽपि भवेद्द्वित्वं विशेषणविशेष्ययोः ।
द्विविमर्शभुवो यद्वद्राज्ञोऽश्वरथपत्तयः ॥ १५ ॥

ऐसी स्थिति में चेतनमात्र शरीर वाले सत्पदार्थों के मायाजनित भेदों में भी एकता होना कठिन नहीं है ॥ १० ॥

परिमित प्रमाता का जो ज्ञेय है वह चिद् अभेदज्ञानरूप भेदसार के ज्ञाता (अर्थात् अपरिमित प्रमाता शिव) का ही है ॥ ११ ॥

इस (परिमित प्रमाता के भेदात्मक ज्ञान) के फलस्वरूप अवरुद्ध हुआ यह (अभेद-व्यवहार) अन्य विकल्पों का स्पर्श नहीं करता है। प्रमाताओं के भेद के कारण (यदि) अन्य विकल्पों का स्पर्श मानें (१२) तो अभेदात्मक ज्ञानवाले एक शब्द के अध्यास के कारण, घट-पट की तरह, अनेक पदार्थ भी एकता को प्राप्त हो जाएँगे ॥ १२–१३ ॥

इसलिये विशेषण और विशेष्य में रहने वाला और (परस्पर) उपकारक प्रयोजन वाला जो सम्बन्ध है उसे अन्य (सम्बन्ध) ही समझना चाहिये ॥ १४ ॥

विशेषण और विशेष्य के अनेक होने पर भी उनमें उसी प्रकार द्वित्व होता है जैसे राजा के अश्व, रथ व पदाति का द्वित्वज्ञान ॥ १५ ॥

विमर्शो राज्ञ इत्येकः स्वसामान्योन्मुखः परः ।
स्वामिसामान्यसंबन्धसहः पुरुष इत्ययम् ॥ १६ ॥
राज्ञः पुरुष इत्येष पश्चात्संबन्धगोचरः ।
कल्प्योऽनेनाथ वा कल्प्यौ पूर्वौ ते सर्वथा त्रयः ॥ १७ ॥
षष्ठ्यादिवाच्यः संबन्धो विनिविष्टो विशेषणे ।
विशेष्यैकत्वमापन्ने स्वं च रूपमनुज्झति ॥ १८ ॥
एकहान्या प्रधानेन शुद्धेनान्यान्ययोगिता ।
स्याद्गुणस्य यथा राज्ञः पुरुषो ब्राह्मणस्य च ॥ १९ ॥
तथान्येन प्रधानेन यैकतान्यापरेण वा ।
संबन्धाख्या गुणस्य स्याद्राज्ञोऽश्वः पुरुषो यथा ॥ २० ॥

स्वसामान्य की ओर उन्मुख होने वाला 'राजा का' यह एक ज्ञान (विमर्श) है तथा स्वामिसामान्य को सहने वाला 'पुरुष' यह दूसरा ज्ञान है ।। १६ ।।

'राजा का पुरुष' यह (स्वस्वामि—) सम्बन्धरूप ज्ञान बाद में जानने योग्य है । इसलिये यह एक (ज्ञान) के रूप में कल्पनीय है अथवा पहले वाले दो (ज्ञानों) के रूप में कल्पनीय है, वास्तव में तो वे तीन (ज्ञान) हैं ।। १७ ।।

(क्योंकि) षष्ठी आदि (विभक्तियों) से कहा जानेवाला और विशेषण में रहने वाला यह सम्बन्ध विशेष्य के साथ एकता को प्राप्त करके भी अपने (पूर्व-) रूप को नहीं छोड़ता है ।। १८ ।।

एक हानि से गौण (यथा राजा) का अन्य-अन्य शुद्ध व प्रधान (यथा पुरुष आदि) के साथ सम्बन्ध (स्थापित) होगा जैसे 'राजा का पुरुष' और 'ब्राह्मण का (पुरुष)' ।। १९ ।।

उसी प्रकार गौण (यथा राजा) का अन्य मुख्य (अश्वादि) के साथ अथवा दूसरे (पुरुषादि) के साथ जो ऐक्य है वही सम्बन्ध कहलाता है जैसे राजा का अश्व, पुरुष (आदि) ।। २० ।।

इति संबन्धगत्युक्ता मायीयज्ञातृनिष्ठिताः ।
धियो विभिन्नार्थदृशो व्यवहारप्रवर्तिकाः ॥ २१ ॥
न परं तास्तथा भ्रान्ताः सर्वा अपि प्रतिक्षणात् ।
स्वसंवित्संज्ञकानन्तचिद्विमर्शप्रतिष्ठिताः ॥ २२ ॥
उक्तः स्वसंवित्सिद्धोऽयं निर्बाध उपयोगवान् ।
संबन्धः प्रत्यभिज्ञायां पूर्णः परिकरः पुनः ॥ २३ ॥

इति श्रीमदुदयाकरपुत्रोत्पलदेवाचार्यविरचिता
सम्बन्धसिद्धिः समाप्ता ।



विभिन्न वस्तुओं को देखने वाली बुद्धियाँ मायीय प्रमाता पर आधारित हैं और लोकव्यवहार का प्रवर्तन करने वाली हैं—यह बात सम्बन्ध के माध्यम से कह दी गई ॥ २१ ॥

किन्तु वे (सम्बन्ध-बुद्धियाँ) उस प्रकार (रस्सी में सर्प की तरह) की भ्रान्त (कल्पना मात्र) नहीं हैं क्योंकि वे सभी आत्मसंवित् नामक अनन्त चिद्विमर्श में प्रतिक्षण प्रतिष्ठित हैं ॥ २२ ॥

स्वसंवित् से सिद्ध, अबाधित और (व्यवहार में) उपयोगी यह सम्बन्ध 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' (ग्रन्थ) में फिर से पूरी तरह और मिला-जुलाकर कहा गया है ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमान् उदयाकर के पुत्र उत्पलाचार्य के द्वारा
विरचित सम्बन्धसिद्धि समाप्त ॥



परिशिष्ट–१

ग्रन्थान्तर

[उत्पलकृत शिवदृष्टिवृत्ति, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका और उस पर स्वोपज्ञवृत्ति से सम्बद्ध विषय का सानुवाद सङ्कलन]

सिद्धित्रयी में जिन विषयों का विवेचन राजानक उत्पलदेव ने किया है उन्हीं विषयों से सम्बद्ध कुछ विचार उनके अन्य ग्रन्थों व वृत्ति में मिलते हैं। सोमानन्द–प्रणीत शिवदृष्टि पर उत्पलकृत वृत्ति, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका ग्रंथ और उस पर लिखी गई स्वोपज्ञवृत्ति से ऐसे विषयों का संकलन कर उन्हें सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। शिवदृष्टि काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली (ग्रन्थाङ्क ५४) के अन्तर्गत १९३४ में प्रकाशित हुई थी। इस संकलन में शिवदृष्टिवृत्ति (शिदृवृ) के साथ अंकित पृष्ठ इसी ग्रन्थ के हैं। उत्पलप्रणीत ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ग्रंथ, सिद्धित्रयी के साथ एक जिल्द में काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली (ग्रन्थाङ्क ३४) के अन्तर्गत सन् १९२१ में प्रकाशित हुआ था जिसमें मात्र अधिकार विभाजन है, आह्निकों का उल्लेख नहीं है जैसा कि अभिनवगुप्तकृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में मिलता है। अतः संकलित अंशों के साथ दिये गये संकेतों में उक्त ग्रन्थानुसार केवल अधिकार और कारिका-क्रम ही उल्लिखित है।

दर्शनभेद

उत्पल ने अत्यन्त स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि काश्मीर शैव दर्शन अथवा शिवाद्वयवाद का अन्य अनेक दर्शनों से मतभेद है—

१. नानादर्शनैश्चास्मिन् शैवाद्वैते नो विरोधः ······।

(शिदृवृ, १२२)

विविध दर्शनों के साथ हमारे इस शिवाद्वय का विरोध है।

२. नहि सर्वत्र दर्शने सर्वैरेवार्थैस्तुल्यैर्भाव्यम् । तथाहि वैशेषिकेषु ईश्वर एव विश्वकर्ता, न तु पृथिव्यादि द्रव्यम् । बौद्धदर्शने ज्ञानमेव स्वपरप्रकाशकं, न रूपादि । ते जैमिनीया जल्पन्ति चोदनैव नियमेन धर्मविषये प्रमाणम् इति न तु प्रत्यक्षादिकम् । (शिदृवृ, १६३)

सभी दर्शनों की तत्त्वमीमांसा एक समान नहीं है । क्योंकि वैशेषिक दर्शन में ईश्वर ही विश्व का कर्त्ता है, पृथिवी आदि द्रव्य नहीं । बौद्धदर्शन में ज्ञान ही स्वयंप्रकाश व परप्रकाश है, न कि रूपादि और वे मीमांसक मानते हैं कि धर्म के विषय में वेदवाक्य ही नियमपूर्वक प्रमाण है न कि प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाण ।

३. प्रकाशमानता हि प्रकाशाभेदः । प्रकाशश्चानपह्नवनीयः सर्वप्रतिष्ठारूपः परमार्थः । सर्वेषां च घटादीनां प्रकाशरूपतया विशेषाभावादेकप्रकाशात्मता, तत एवैकशिवत्वम् । (शिदृवृ, १४८)

प्रकाशमानता निश्चय ही प्रकाश से अभिन्न है और प्रकाश का खण्डन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह सभी का प्रतिष्ठारूप परमार्थ है । घट आदि सभी पदार्थ प्रकाशरूप हैं, उनमें (प्रकाश की दृष्टि से) भेद का अभाव है । अतः उन्हें एक प्रकाशरूप कहा जाता है । यही एक शिवता अथवा शिवाद्वयवाद है ।

४. ······प्रकाशाद्भिन्नस्य प्रकाशमानतानुपपत्तेः ।
(ईप्रकावृत्ति, १.२६)

प्रकाश से भिन्न (पदार्थ) की प्रकाशमानता सिद्ध नही होती है ।

५. संविच्च विमर्शशून्या संविदेव न भवति । (शिदृवृ, ४९)

विमर्श से शून्य संवित् (प्रकाश) संवित् ही नहीं है ।

६. प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्प्रकाशात्मतया विना ।
न च प्रकाशो भिन्नः स्यादात्माऽर्थस्य प्रकाशता ॥
(ईप्रका, १. ३३)

पदार्थ को यदि प्रकाशरूप नहीं माना जाएगा तो वह पहले की तरह अप्रकाश (असत्) हो जाएगा । प्रकाश (प्रकाशन से) भिन्न नहीं है । पदार्थ की आत्मा (पदार्थ का स्वरूप) प्रकाशन है ।

७. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ।। (ईप्रका, १.४२)

प्रकाशस्य मुख्य आत्मा प्रत्यवमर्शस्तं विनार्थभेदिताकारस्यास्य स्वच्छतामात्रं न त्वजाड्यं चमत्कृतेरभावात् । (वही, वृत्ति)

प्रकाश का स्वभाव विमर्श कहा गया है। ऐसा नहीं मानेंगे तो पदार्थ से उपरक्त प्रकाश (ज्ञान) भी स्फटिकमणि आदि की तरह अचेतन सिद्ध होगा ।

प्रकाश का प्रमुख स्वरूप विमर्श है जिसके बिना, पदार्थों में भेद करने वाले इस प्रकाश का रूप स्वच्छता मात्र ही होगा, चेतन नहीं क्योंकि (विमर्श रहित प्रकाश में) चमत्कार का अभाव होता है ।

८. ··· ··· ···परापरावस्थायां योऽहमिति सहजप्रत्यवमर्शात्मा प्रकाशः, स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्दरूपो निर्वृतचिन्मयः स्थित एव । सैव स्वतन्त्रा मुख्या शिवता । (शिदृवृ, ६)

परापर अवस्था में जो यह मैं हूँ ऐसा सहजज्ञानरूप प्रकाश है वही अन्य की अपेक्षा न रखने वाला, पूर्णत्व के आनन्दरूपवाला पूर्ण चिन्मय है। वही स्वतंत्र, प्रमुख शिवता है ।

९. यदर्थक्रियाकारित्वात्सत् तत्सर्वं शिवरूपम् ।
(शिदृवृ, १५९)

जो अर्थक्रियाकारी होने से सत् है वह सब शिवरूप ही है ।

१०. अर्थक्रियापि सहजा नार्थानामीश्वरेच्छया ।
(ईप्रका, २.२७)

पदार्थों में अर्थक्रिया भी सहज नहीं है, वह ईश्वर की इच्छा के अधीन है ।

११. अशक्तश्चार्थक्रियायां विद्यते च, इत्येतावन्नास्ति प्रख्योपाख्याकरणेन तावदव्यभिचारात् । (शिदृवृ, १४४)

विद्यते यदि, तर्ह्यर्थक्रियायामशक्त इति किमेतत् , यत्र यत्र हि सत्वं तत्र तत्र शक्तत्वमर्थक्रियाकारित्वमित्यर्थः । प्रख्या··· ···सत्वमिति । (वही, टीका)

शक्ति से शून्य भी है और अर्थक्रिया भी करता है ये दोनों बातें एक साथ संभव नहीं है क्योंकि प्रख्या (अस्तित्व या प्रकाश) और उपाख्या (भातिता या विमर्श) कभी-भी एक दूसरे के बिना नहीं रहते हैं।

शिवदृष्टिवृत्ति के टीकाकार कहते हैं—

किसी वस्तु का अस्तित्व भी हो और वह सार्थक क्रिया करने में असमर्थ हो यह असंगत है। क्योंकि जहाँ-जहाँ सत्त्व है वहाँ-वहाँ अर्थक्रिया-कारित्व है। प्रख्या अर्थात् सत्त्व।

१२. अवस्त्वपि प्रकाशमानं चिद्रूपमेव केवलं बाह्ये प्रकाशनाभावादवस्तु उच्यते। (शिदृवृ, १३०)

प्रकाशमान अवस्तु भी चिद्रूप ही होती है क्योंकि बाह्यरूप से अप्रकाशित होने के कारण उसे अवस्तु कहा जाता है।

१३. न च प्रकाशमानस्यावस्तुता युज्यते······ । प्रकाशनं च प्रतीयमानता प्रत्यक्षेणास्तु अनुमानेन वा, सर्वथा सद्रूपवत्ता स्यात्। (शिदृवृ, १७१)

जो प्रकाशमान है उसे असत्य कहना तर्क संगत नहीं है। प्रकाशन का अर्थ है प्रतीयमान होना चाहे प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से। (जो प्रकाशमान है) वह पूरी तरह से सत् है।

१४. ··· ··· ··· ··· ··· ··· ·· ··· ··· ··· ।

प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो नाप्रकाशश्च सिद्ध्यति ॥
(ईप्रका, १.३४)

··· ··· अर्थसिद्धिः प्रकाशात्मतायत्ता। (वही, वृत्ति)

प्रकाशित होने वाला पदार्थ प्रकाशरूप ही है क्योंकि अप्रकाश का कोई अस्तित्व नहीं है।

पदार्थों की सिद्धि प्रकाशात्मता (विमर्श) के अधीन है।

✓ १५. शक्तिः शक्तत्वं शक्तस्य धर्मः, न च धर्मो धर्मिणो भिद्यते तथा हिमवह्न्योः शीतोष्णस्पर्शौ न पृथगुपलभ्येते। (शिदृवृ, १००)

शक्ति अथवा शक्ति-सम्पन्न होना शक्तिमान् का धर्म है। धर्म और धर्मी कभी-भी एक दूसरे से विलग नहीं होते हैं। जैसे बर्फ और शीतलता का

स्पर्श तथा अग्नि और उष्णता का स्पर्श कभी-भी अलग-अलग उपलब्ध नहीं होता है।

१६. यतश्च देवदेवशक्तिरेव पदार्थशक्तिरुक्ता, शक्तिशक्तिमतोश्च न भेदस्ततो देवदेव एव पदार्थ इति······। यदिदं "इदं स एको रुद्रः" तथा 'परः पुरुष एवेदं सर्वम्' इति चोक्तं वेदे। पुराणेतिहासादिषु चाष्टमूर्तित्वमुक्तं महेश्वरस्य यत्रात्यन्ततामसपार्थिवत्वरुपेण मूढतापि स्वरुपमेव। "सोऽरोदीत्" इति च रुद्रशक्तिनिर्वचनेऽपि वेदेनोक्तं तदैक्यम्। (शिदृवृ, १२३–४)

देवदेव की शक्ति ही पदार्थों की शक्ति कही गई है। शक्ति और शक्तिमान् का भेद नहीं है। अतः देवदेव ही पदार्थ है।···जैसा कि वेद में भी कहा गया है — वह यह रुद्र एक है' और परम पुरुष ही यह समस्त जगत् है।' पुराण, इतिहास आदि (ग्रंथों) में महेश्वर को अष्टमूर्ति कहा गया है जिसके अनुसार अत्यन्त तमोगुणी पार्थिवतत्त्वरूप होने से मूढता (अज्ञानता) भी उन (महेश्वर) का स्वरूप ही है। 'वह रोया' इस उक्ति के द्वारा रुद्र की शक्ति का निर्वचन करते हुए वेद ने (प्रमातृप्रमेय की) एकता को ही उद्घाटित किया है।

पदार्थों की संविन्निष्ठा

१७. सर्वेऽर्थाः संविदि प्रतिष्ठामुपयान्ति, असंविदिता असन्त एव। (शिदृवृ, ४६)

समस्त पदार्थ संवित् में प्रतिष्ठित हैं। जो संवित् में प्रतिष्ठित नहीं हैं वे असत् ही हैं।

न च चित्तमभेदप्रत्यवमर्शशक्तिरूपां विना पूर्णशुद्धबोधात्मा कर्ता वेत्ति घटादीन् संविन्निष्ठत्वाद्विषयव्यवस्थितीनाम्।

(शिदृवृ, १६–२०)

अभेदात्मक ज्ञानशक्तिरूप चिति के बिना पूर्ण विशुद्ध ज्ञानरूप कर्ता घटादि पदार्थों को नहीं जानता क्योंकि समस्त प्रमेय संवित् में विश्रान्त हैं।

१८. तद्विश्रान्तिं विना अर्थो ज्ञात एव न भवति।

(शिदृवृ, ८)

संवित् में विश्रान्ति के बिना पदार्थ का ज्ञान ही प्राप्त नहीं हो सकता।

२०. तथाहि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
....।। (ईप्रका १.४)

वस्तूनां जडाजडभेदेन द्वैविध्यम्, तत्र जडस्वरूपस्य जीवन्निष्ठा सिद्धिः...............। (वही, वृत्ति)

क्योंकि अचेतन पदार्थों की प्रतिष्ठा चेतन के आश्रित है।

अचेतन और चेतन के भेद से वस्तु दो प्रकार की है। अचेतन पदार्थों की सिद्धि चेतन के आश्रित होने से है।

२१. तत्तद्विभिन्नसंवित्तिमुखैरेकप्रमातरि।
प्रतितिष्ठत्सु भावेषु ज्ञातेयमुपपद्यते।। (ईप्रका, १.६५)

अनेकसंवित्स्रोतोमुखैरेकप्रमातृसिन्धुमुपलीय भावभेदाः कार्य-कारणतादिव्यवहारसमन्वयं भजन्ते। (वही, वृत्ति)

(जगत् के) विभिन्न भावपदार्थ उन-उन विभिन्न (पदार्थ-) ज्ञानों के माध्यम से एक (परम) प्रमाता में अवस्थित हैं। इसीसे (नियमानुसार) उनकी प्रमेयता सिद्ध होती है।

अनेक ज्ञानरूप प्रवाहों (नदियों) के द्वारा एक प्रमातृरूप सागर में नाना भाव पदार्थ लीन हैं और कार्यकारणतादिरूप व्यवहार के समन्वय को प्रदर्शित करते हैं।

२२. शक्तं वस्त्वेवेत्युक्तं वस्तु च सदुच्यते। यच्च सत्, तन्ना-सदिति स एव परमार्थः। यस्माच्च परमार्थस्ततः सत्त्वात्परमार्थ-त्वाच्छिवः। ननु कथं परमार्थमात्रत्वेन शिवः, जडोऽपि कथं न परमार्थः; तन्न जडस्य सत्तैव कथं चिद्व्यक्तिं विना सिद्धा।
(शिदृवृ, १४८)

जो समर्थ (स्वतंत्र) है वही वस्तु है और वस्तु को ही सत् कहा जाता है। जो सत् है वह असत् (कदापि) नहीं हो सकता। अतः (स्वतंत्र चित्तत्व अथवा शिव ही) पारमार्थिक सत्य है। (शंका—) शिव ही परमार्थ क्यों है, जड़ परमार्थ क्यों नहीं है? (समाधान—) ऐसा नहीं है अर्थात् जड़ परमार्थ नहीं हो सकता क्योंकि चेतन की अभिव्यक्ति के बिना

जड़ पदार्थ की सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकती (अर्थात् जड़ की सत्ता चेतन के अधीन है)।

अजड़ता-जड़ता

२३. आत्मनोऽह्यहमिति परामर्शोऽनुभवः, सैव चाजडता जड-वैलक्षण्यदायिनी ··· ··· ···। (शिदृवृ, १३७)

समस्त विश्व आत्मरूप है यही परामर्श अनुभूति है। यही अनुभूति जड़ से भिन्न करने वाली अजडता है।

२४. स्फुरद्रूपता हि सत्ता। स्फुरद्रूपता च प्रकाशमानता। ततश्च जडता तावन्नास्ति। (शिदृवृ, १४८)

सत्ता का अर्थ ही है स्फुरद्रूपता और स्फुरद्रूपता का अर्थ है प्रकाशमानता। अतः जड़ता का कोई अस्तित्व नहीं है।

जड़ की कारणता का निषेध

२५. न च युक्तं जडस्यैवं भेदाभेदविरोधतः।
आभासभेदादेकत्र चिदात्मनि तु युज्यते॥
(ईप्रका, २.५१)

(कार्य व कारण परस्पर भिन्न भी और अभिन्न भी होते हैं किंतु) भेद और अभेद का यह परस्पर विरोधी गुण जड़ में मानना युक्तिसंगत नहीं है। एक चिदात्मा में आभासों का भेद मानना तर्क संगत है।

२६. जडस्य तु न सा शक्तिः सत्ता यदसतः सतः।
कर्तृकर्मत्वतत्त्वैव कार्यकारणता ततः॥
(ईप्रका, २.३४)

जडं प्रधानपरमाणुबीजादि तु न शक्तमसतो निर्माणे, कर्तृत्वमेव हि कारणत्वं कर्मतैव च कार्यत्वं न त्वन्यत्। (वही, वृत्ति)

जड़ पदार्थ में ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि वह (कारण में) असत् (कार्य) को सत् बना दे। क्योंकि कर्तृकर्मभाव ही कार्यकारणभाव है।

(सांख्य-सम्मत) प्रकृति, (न्याय-वैशेषिक–सम्मत) परमाणु और बीज आदि अचेतन हैं। ये (कारण में) असत् (कार्य) को उत्पन्न करने

में असमर्थ हैं। कर्तृता ही कारणता है और कर्मता ही कार्यता है। इसके अलावा (कार्यकारणभाव) और कुछ नहीं है।

२७. अस्मिन्सतीदमस्तीति कार्यकारणतापि या।
साप्यपेक्षाविहीनानां जडानां नोपपद्यते ॥
(ईप्रका, २.४६)

कार्यकारणता के विषय में बौद्धों का मत है कि इसके होनेपर ऐसा होता है यही कार्यकारणभाव है। किंतु ऐसा कार्यकारणभाव भी (परस्पर) अपेक्षा से शून्य जड़ पदार्थों में सिद्ध नहीं होता है।

२८. अत एव योगिन इव परमेश्वरस्येच्छावशादेव तथावस्थाने पृथिव्यादितत्त्वगणे जडता नास्ति इच्छाविशेषरुपत्वात्, न तु प्रधानादि जडोपादानतास्य। (शिदृवृ, ११३–४)

अतः योगी की तरह, परमेश्वर की इच्छा के कारण ही पृथ्वी आदि तत्त्वसमूह उन-उन रूपों में अवस्थित हैं। इनमें जड़ता नहीं है क्योंकि ये परमेश्वर की इच्छा विशेष के रूप हैं। इन (पृथ्वी) आदि का उपादान कारण प्रधान (या परमाणु) आदि जड़ नहीं है।

शिवकारणता (सत्कार्यवाद)

२९. शिवकारणतया सत्कार्यवादः। (शिदृवृ, १७०)

कार्यकारणवाद के प्रसंग में उत्पल को सत्कार्यवाद अभीष्ट है। किंतु उनके सत्कार्यवादानुसार शक्तिमान् शिव कारण है और कार्य शिव की शक्ति का ही विस्फार है। वे शिदृवृ, पृ. १६५—१७१ में कारणभाव एवं कार्यभाव दोनों प्रकार से सत्कार्यवाद की सिद्धि करते हैं।

३०. चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरूपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥
(ईप्रका, १.३८)

चिदात्मा शिव अपने में अभिन्नरूप से स्थित पदार्थ-समूह को बिना किसी उपादान कारण के (केवल स्वतंत्र) इच्छा के द्वारा ही, योगी की तरह, बाह्यरूप में प्रकाशित करता है।

३१. एष चानन्तशक्तित्वादेवमाभासयत्यमून् ।
भावानिच्छावशादेषा क्रिया निर्मातृतास्य सा ॥

(ईप्रका, २.३३)

शिव अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। इन्हीं के कारण वह इन भाव पदार्थों को इच्छानुसार आभासित करता है। यही उसकी क्रिया है, विश्व निर्माण की शक्ति है।

३२. एवं प्रमातैव कारणं स च बाह्याभ्यन्तरकार्याभासक्रमोऽप्येक एवेत्येवमप्येकस्य कर्तुः सिद्धा क्रिया । (ईप्रकावृत्ति, २.३९)

इस प्रकार प्रमाता ही (प्रमेयादि का) कारण है। वह (प्रमाता) बाह्य व आन्तरिक कार्यों के आभासन-क्रम के बावजूद एक ही है। अतः इस प्रकार एक ही कर्ता (परम शिव) की समस्त क्रियाएँ सिद्ध होती हैं।

३३. स संसारार्थं मायाशक्तिकृतैक्याख्यात्या भावाननात्मस्थानाभासयति ··· ··· ·· । (शिदृवृ, २)

वह शिव अपनी (अभिन्न) माया शक्ति से अभेदात्मक ज्ञान को भेद में बदलते हुए भाव पदार्थों को इस तरह से प्रकाशित करता है मानो वे स्वयं उसमें स्थित नहीं हैं।

३४. ··· ··· मायाशक्तिवशादात्माख्यातितः आनन्दातिरिक्त इव तत्त्वतामेति जगन्निर्माणेच्छारुपेण स्थातुम् । (शिदृवृ, ३०)

माया शक्ति के कारण आत्म स्वरूप-विषयक अज्ञान उत्पन्न होता है और (वह शिव) आनन्द से भिन्न-सा होता हुआ जगत् के निर्माण की इच्छा करता है और तत्त्वरूपता को धारण करता है।

३५. न चेदन्तःकृतान्तविश्वरूपो महेश्वरः ।
स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् ॥

(ईप्रका १.१०)

चित्तत्त्वमेव 'विश्वरुपमतोऽतिरिक्तस्यानुपपत्तेः । अशेषपदार्थज्ञानानामन्योन्यानुसंधानमस्यैव ज्ञानादिकाः शक्तयः ।

(वही, वृत्ति)

समस्त विश्व को अपने में समाविष्ट करने वाले महेश्वर को नहीं माना जाएगा तो ज्ञान, स्मृति और अपोहन शक्ति से नित्य सम्पन्न एक चिद्रूप कैसे सिद्ध होगा ।

चित्तत्व ही विश्वरूप है । उसके अतिरिक्त अन्य (तत्त्व) की सिद्धि नहीं होती है । समस्त पदार्थों के ज्ञानों में परस्पर एकता का अनुसंधान करना ही इसकी ज्ञान आदि शक्तियाँ हैं ।

३६. निजचिन्मात्ररूपशिवतत्त्वादिपार्थिवतत्त्वान्तं रूपं पदार्थत्वेन तैस्तैरुच्यमानं भगवान् प्रसूयते । ततः सर्वत्रैव तदात्मता ।

(शिदृवृ, ३०)

अपने चिन्मात्ररूप शिवतत्त्व से लेकर पदार्थ के रूप में कहे जाने वाले पृथ्वी पर्यन्त सभी रूपों को शिव ही उत्पन्न करता है । अतः सर्वत्र (सभी पदार्थों में) शिवता है ।

३७. ...स्वयं स तावन्निमित्तकारणं, तदिच्छा समवायिकारणं, घटादिवस्तुनः सत्तेच्छान्वयात् स एव चावयवसंयोगः सहकार्यसमवायिकारणमित्यर्थः ।　　(शिदृवृ, १३१)

...वह स्वयं ही निमित्त कारण है, उसकी इच्छा समवायी कारण है क्योंकि घटादि वस्तु के रूप में सत्तालाभ की इच्छा से उसका सम्बन्ध है तथा वह (शिव) ही (मृत्तिका आदि के) अवयवों का संयोगरूप है जो कि सहकारी व असमवायिकारण कहा जासकता है ।

३८. अत एवाङ्कुरेऽपीष्टो निमित्तं परमेश्वरः ।
तदन्यस्यापि बीजादेर्हेतुता नोपपद्यते ॥

(ईप्रका, २.४०)

अतः (बीज से) अंकुर (की उत्पत्ति) में भी निमित्त कारण ईश्वर ही है क्योंकि उसके बिना बीज आदि की कारणता भी सिद्ध नहीं होती है ।

३९. तथा हि कुम्भकारोऽसावैश्वर्यैव व्यवस्थया ।
तत्तन्मृदादिसंस्कारक्रमेण जनयेद्घटम् ॥

(ईप्रका, २.४१)

जैसे कुंभकार भी अपनी इच्छा, ज्ञान आदि ऐश्वर्य की व्यवस्थानुसार उन-उन मिट्टी आदि के संस्कार के क्रम से घट को उत्पन्न करता है ।

४०. न च मृत्काष्ठादि तेषां तक्षादीनामिव ।
किञ्चित्साधनमस्ति परमेश्वरेच्छातिरिक्तम् ॥
……भगवदिच्छामात्रमेव विश्वरुपत्वं संपद्यते ।
(शिदृ, ३३)

उन सुथार आदि का परमेश्वर की इच्छा के अलावा मिट्टी, लकड़ी आदि कोई साधन नहीं है।……भगवान् की इच्छा मात्र ही विश्वरूप बन जाती है।

४१. न वासनाप्रबोधोऽत्र विचित्रो हेतुतामियात् ।
तस्यापि तत्प्रबोधस्य वैचित्र्ये किं निबन्धनम् ॥
(ईप्रका, १.३६)

विविध वासनारूप ज्ञान मात्र को संसार का कारण नहीं माना जा सकता (जैसा कि बौद्ध मानते हैं) क्योंकि (तब यह प्रश्न उठेगा कि) उस विचित्र वासनारूप ज्ञान का कारण क्या है ?

४२. ……शिवात्मकत्वे सर्वस्यैव उक्तेऽस्मिन् सति परैरस्य पक्षस्य बहुमुखाक्षेपः क्रियते…… । (शिदृ, १०७)

समस्त पदार्थों को शिवरूप कहने पर अन्य दार्शनिक इस सिद्धान्त पर अनेक प्रकार के आक्षेप करते हैं।

४३. प्रकाशात्मनः परमेश्वरस्य मायाशक्त्या स्वात्मरूपं विश्वं भेदेनाभास्यते…… । (ईप्रकावृत्ति, १.४६)

प्रकाशरूप परमेश्वर ही अपनी (अभिन्न) मायाशक्ति की सहायता से स्वात्मरूप विश्व को अपने से भिन्नरूप में प्रकाशित करता है।

४४. अंकुरो जायते बीजभूमावित्यत्रासतोऽङ्कुरस्य कारणता कर्तृता न स्यात् , घटं वा करोति कुम्भकार इत्यसता कर्मणा कारकान्तराणां कर्तुर्वा कः सम्बन्धः, तत्कथं समूहः कारकाणां, ततः क्रिया नोत्पद्येत । तस्माच्चिद्रूपः परमेश्वरस्तथातथाभावस्वरुपैः स्वयमेव प्रकल्पते भवति । (शिदृ, १६७)

बीज-भूमि में अंकुर उत्पन्न होता है-इस उदाहरण में (उत्पत्ति से पूर्व) जो अंकुर असत् है उसकी कारणता या कर्तृत्व नहीं माना जा सकता। कुंभकार घट का निर्माण करता है इस उदाहरण में भी कर्म (घट) असत्

है और उसका अन्य कारकों या कर्ता (कुंभकार) से क्या सम्बन्ध हो सकता है ? तब कारकों का समूह मानने से क्या ? इस स्थिति में क्रिया भी नहीं होगी । अतः (यही मान्यता युक्तियुक्त है कि) चिद्रूप परमेश्वर ही उन-उन पदार्थों के स्वरूपों में स्वयं को ही कल्पित करता है ।

४५. अथ मृत्पिडघटयोर्नामसंनिवेशभेदाद् भेद एव, तत्कथं सत्कार्यमिति । तन्न, नामसंस्थानमात्र एवात्र भेदः ।

(शिदृवृ, १७१)

प्रश्न-मृत्तिका के पिण्ड (कारण) व घट (कार्य) में नाममात्र के सन्निवेश का भेद होने से भी भेद तो है ही । ऐसी स्थिति में (कार्य-कारण में भेद सिद्ध होने पर) सत्कार्यवाद कैसे संभव है ? (उत्तर) ऐसा नहीं है । (कारण व कार्य में) नाम संस्थान का ही केवल भेद है (वस्तुतः इनमें अभेद है) ।

४६. यथा द्वैतदर्शनेऽपीश्वरो मोहं मायातत्त्वमपेक्ष्य सर्गे प्रवर्तते, कर्मसाम्यं चापेक्ष्य अनुग्रहे न चाशक्योऽनीश्वरः । तस्मादनेकघटपटस्वभावाभिः शक्तिभिस्तच्छक्त्यभेदतः शक्तिमतालक्षणत्वात् शिवत्वस्य एक एव शिवः तेन तेन प्रकारेणानेकशक्तघटपटादिपदार्थात्मकत्वात्तस्य । (शिदृवृ, १४७)

जैसे द्वैतवादी दर्शन में भी ईश्वर मोहमय माया तत्त्व की अपेक्षा से सृष्टि कर्म में प्रवर्तित होता है, कर्म-समानता की अपेक्षा से अनुग्रह करने में प्रवृत्त होता है (किंतु) अशक्त और ऐश्वर्यरहित ईश्वर यह सब नहीं कर पाता। अतः अनेक घट, पट आदि स्वभाव वाली (नाना) शक्तियों के रूप में शिव ही स्थित है । शिव शक्तिमान् के लक्षण वाला है और उन शक्तियों से अभिन्नरूप है । शिव घट, पट आदि उन-उन नाना शक्तिमान् पदार्थों के रूपवाला ही है ।

४७. यथा योगिनां सर्वभावत्वमिच्छयानेकात्मत्वं वा भवतीति इष्टं तथा परमेश्वरस्यापि मन्तव्यम् । ह्यसौ योगी स्वात्मनो मृत्पिण्डस्येव शिबिकस्तूपकादिरूपविकारपरिणामक्रमेण कुम्भकार इव घटमिव भावमण्डलं जनयति, अपि तु यस्य यादृशीच्छा तत्समनन्तरमेवेष्टकार्यात्माभिलाषात्मतया स्थितिः तथा चिदात्मनोऽपि ।

(शिदृवृ, ११२)

जिस प्रकार योगी अपनी इच्छा के द्वारा समस्त पदार्थों में एकता अथवा अनेकता देखता है अर्थात् एक या अनेक रूप हो जाता है वैसा ही परमेश्वर के प्रसंग में भी समझना चाहिये। यह योगी उस प्रकार भाव पदार्थों को उत्पन्न नहीं करता जैसे कुम्भकार मिट्टी के पिण्ड से शिबिक, स्तूपक आदि विकारों को क्रमशः उत्पन्न करते हुए घट को उत्पन्न करता है। अपितु जिस (योगी) की जैसी इच्छा होती है वह अपनी इच्छानुसार उसी इच्छाक्षण में ही उस प्रकार बन जाता है। ठीक यही स्थिति (स्वतंत्र इच्छानुसार सृष्टि करने वाले) परमात्मा की है।

शिवाद्वयवाद

४८. न ह्यद्वयवादे ब्रह्मणः कश्चिदर्थः परोऽस्ति।

(शिदृवृ, ५३)

इस शिवाद्वयवाद में कोई भी पदार्थ शिव के लिए 'पर' नहीं है अर्थात् सब कुछ उसके अपने स्वरूप का स्वेच्छापूर्वक विस्फार ही है।

४९. सर्वपदार्थानामुत्पत्तिकाले सर्वतत्त्वमयशिवतत्त्वोपयोग इति न कदाचनापि शिवरूपसंस्पर्शविरहिता, महासर्गप्रारम्भ इव भावानामेकैकस्य निर्वाणेऽपि परमेश्वरस्पर्शरसोऽखण्डित एवेति सामरस्यम्।

(शिदृवृ, १९)

सभी पदार्थों की उत्पत्ति के समय में समस्त तत्त्वमय शिवतत्त्व का उपयोग होता है। अतः कोई (ऐसा क्षण या पदार्थ की कोई ऐसी अवस्था) नहीं है जिसमें शिवता का स्पर्श न हो। जिस प्रकार महान् सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर शिव की एकता अखण्डित रहती है उसी प्रकार भाव पदार्थों में से प्रत्येक के (व्यवहारदृशा) नष्ट होने पर भी परमेश्वर अखण्डित ही रहता है। यही सामरस्य है।

५०. इतोऽपि च हेतोः सर्वशिवता। अवयवेभ्यो व्यतिरिक्तोऽवयवी न क्वचित् ज्ञाने चाक्षुषे मानसे वा अवभासते। यैरपि व्यतिरिक्तोऽसौ प्रतिज्ञातस्तैः प्रतीतिः समवायवशादभेदेनैव इष्यते।······अवयवेषु च भिन्नेषु एकैव देवदत्तता युज्यते, तथा अवयभेदगतमेकं रूपम्। एवं त्रैलोक्यवर्तिष्वपि सर्वेष्वेवार्थेषु गतं शिवरूपम्। (शिदृवृ, १७४)

सर्वशिवता का एक यह भी कारण है। अवयवों से भिन्न अवयवी की सत्ता ज्ञान में, चाक्षुष अथवा मानस (प्रत्यक्ष) में कहीं भी प्रकाशित नहीं होती। जो (न्यायादि दर्शन अवयवों से) भिन्न इस (अवयवी) की सत्ता मानते हैं वे भी समवाय सम्बन्ध के द्वारा इनमें अभेद को स्वीकार करते हैं। ...अवयवों में भेद होनेपर भी देवदत्तता एक ही मानी जाती है। उसी प्रकार अवयवों का भेद होनेपर भी वस्तुः वे एक हैं। इसी नियमानुसार त्रैलोक्य में स्थित सभी पदार्थों में एक ही शिवरूप अनुगत है।

५१. इतश्चैकत्वम्, यत एकचित्त्वात्मतां विना व्यवहारो न जायते। यतः शब्दार्थयोर्योऽयमेकपरामर्शमयो वाच्यवाचकलक्षणः सम्बन्धः, स कथं चित्तत्वे भिन्नदेशत्वे भिन्नमूर्तामूर्तत्वादिस्वभावत्वे भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वे च सति स्यात्। (शिदृवृ, १७७)

(प्रमातृप्रमेय आदि में) इसलिये भी ऐक्य आवश्यक है क्योंकि एक चिदात्मा को माने बिना लोक व्यवहार संभव नहीं है। क्योंकि शब्द और अर्थ का एक ज्ञानरूप वाच्यवाचकलक्षण जो सम्बन्ध है वह देश के भिन्न होनेपर, मूर्त, अमूर्त आदि के भिन्न-भिन्न स्वभाव होनेपर और इन्द्रिय व विषय के भिन्न होनेपर कैसे घटित (संभव) होगा ? अर्थात् नहीं होगा।

५२. यथा स्वनिष्ठे शिवतामात्रस्थितौ परमेश्वरे शिवता सर्वशक्तिविलोलता तथा पृथिवीपर्यन्तायामपि तादृशमेव रूपम्।

(शिदृवृ, १०६)

शिव स्वात्मस्वरूप में जब स्थित रहता है तब उसमें समस्त शक्तियों का (अभेदात्मना) सद्भाव रहता है उसी प्रकार (जब वह विश्व के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है तब) पृथ्वी पर्यन्त (स्थूल) आभासों में भी उसका स्वरूप वैसा ही अर्थात् शक्ति-समन्वित रहता है।

५३. विभागोऽपि च तदभेदाद्वास्तव एव। (शिदृवृ, १७१)

(विश्वरूप) भेद भी, (शिव से कार्य के) अभेद के कारण वास्तविक है। अर्थात् सत्य शिव का आभास होने से जगत् भी सत्य है।

५४. वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना॥

(ईप्रका, १.३२)

शिव के अन्दर (स्वरूप में अभिन्नरूप से) विद्यमान भाव पदार्थों का बाह्यरूप में प्रकाशन होना है।

५५. परमेश्वरो नरकेऽपि स एवास्ते, न तु तदतिरिक्तः कश्चि-दस्तीत्यैक्यमेव स्थिरीकृतम्। (शिदृवृ, ३६)

नरक में भी वही परमेश्वर स्थित है क्योंकि उसके अलावा किसी का अस्तित्व ही नहीं है। इस प्रकार (सर्वविध) ऐक्य ही सिद्ध होता है।

५६. सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव इति व्यवहर्तव्यम्।

(शिदृवृ, ५)

समस्त भाव पदार्थों (प्रमातृ-प्रमेयादि) में आत्मरूप शिव ही (अभिव्यक्त होता) है —ऐसा व्यवहार करना चाहिये (यही व्यवहार परमार्थ है)।

५७. भेदा अपि तदात्मकाः ··· ···। (शिदृवृ, ३५)

भेद भी उस (शिव) के रूप वाले ही हैं अर्थात् शिवरूप हैं, उनमें भी शिवता है।

५८. भेदः शिवात्मकः। (शिदृवृ, १२८)

भेद (भी) शिवरूप (ही) है।

५९. एकमेव चित्तत्वमनन्तविश्वरूपमिति। (शिदृवृ, १४७)

एक ही चित् तत्त्व अनन्त विश्व के रूप में अभिव्यक्त होता है।

६०. मायाशक्तिवशात् तथैकत्वाप्रथनादनेकत्वम्। वस्तुतस्त्व-भेद इति। (शिदृवृ, १४२)

माया शक्ति के कारण, एकत्व के अज्ञान के फलस्वरूप अनेकता दिखाई देती है वास्तव में तो (प्रमाता व प्रमेय में) अभेद ही है।

६१. यथा न योगिनो नानासैन्यशरीरकैर्गजरथतुरगपदातिरूपैर-वस्थितस्यात्मविभागस्तथा परमेश्वरस्य मध्योत्कृष्टनिकृष्टकैर्देव-मनुष्यतिर्यगादिरूपैरविभेदः सर्वशक्तिबोधमात्ररूपस्यैकत्वनियमात्। अथवाऽत्यन्तप्रसिद्धोऽयं दृष्टान्तः यथाम्बुधेस्तरंगाणां चैक्येऽपि व्यव-हारभेदस्तथा शिवस्य विश्वस्य च।··· (शिदृवृ, ११३)

जिस प्रकार योगी हाथी, रथ, घोड़े, पैदल आदि अगणित सेनारूपों

में स्वयं को अभिव्यक्त करते हुए भी स्वयं के स्वरूप को विभाजित नहीं करता अर्थात् एक और अविकृत बना रहता है उसी प्रकार परमेश्वर भी उत्कृष्ट, मध्य और निकृष्ट (सृष्टि द्वारा) क्रमशः देव, मनुष्य और पक्षी आदि रूपों में अभिव्यक्त होते हुए भी अभिन्न बना रहता है क्योंकि उसका समस्त शक्तियों का बोध एक रूप है। अथवा (इसी तथ्य को) अन्य प्रसिद्ध उदाहरण (से समझाया जासकता) है कि जैसे सागर के एक होनेपर भी लहरों के द्वारा व्यावहारिक दृष्टि से भेद कहा जाता है वैसे ही शिव और विश्व में भी (पारमर्थिक दृष्टि से अभेद है तथा व्यावहारिक दृष्टि से भेद) है।

६२. संसारव्यवहारोऽप्यविद्या नाम न पदार्थान्तरं भवति ईश्वरस्यैव तथात्वेन लोकयात्रात्मतया तथावस्थानात्। शास्त्रमपि वा व्यवहारगामि संस्कारोपदेशकं न शिवतत्त्वभेदाय।......

(शिदृ, ११५–६)

सांसारिक व्यवहार भी अविद्या ही है, कोई अन्य पदार्थ नहीं क्योंकि ईश्वर ही लोकव्यवहार के लिए संसाररूप में अभिव्यक्त होता है। शास्त्र भी व्यवहार के अनुकूल संस्कारों का उपदेश देनेवाला है, न कि शिवतत्त्व को (पारमार्थिक दृष्टि से) भिन्नरूप में बताने वाला है।

६३. तत्र हि कल्प्यतां निमित्तं यत्रातद्रूपत्वे तद्रूपतोद्भवः। अथैवं चोद्यते-पूर्वं शान्तरूपत्वमजगद्रूपत्वं पश्चाज्जगद्रूपतेत्यपूर्वताया निमित्तं वाच्यमिति। तन्न, यत्राभ्युपगमे, शान्तेऽपि शिवत्वं स्थूलेऽपि जगद्रूपत्वे शिवत्वमेव वर्णितं तत्र शान्तता शिवरूपता का स्यात्, ब्रूहि एतत्। शान्तमपि हि तव वस्तु, वस्तु च सत्तामयं, सत्ता भवत्ता भवनकर्तृता, स्वातंत्र्यात्मकं च कर्तृत्वं चिद्रूपस्येच्छादिशक्तिमत इति सर्वं वस्तु शिवः। (शिदृ, ११९)

निमित्त कारण की कल्पना तो वहाँ की जाए जहाँ कारण (कार्य के रूप में) वैसा रूप ग्रहण करे जो उसमें न हो। यदि ऐसा कहो कि पहले वह (शिव) शान्तरूप था अजगद्रूप था और बाद में जगद्रूप बन गया तो, इस अपूर्वता में कोई निमित्तकारण अवश्य होना चाहिये। यह बात स्वीकार-योग्य नहीं है। इस मत में शान्तता में भी शिवता है और जगत् के स्थूलरूप में भी शिवता वर्णित की गई है तब शान्तता और शिवरूपता

में क्या भेद है, कहो। तुम्हारे द्वारा स्वीकृत शान्त वस्तु भी वस्तु है, वस्तु सत्तामय होती है, सत्ता का अर्थ है होना, भवनकर्तृता। कर्तृत्व स्वातंत्र्यरूप होता है जो कि चिद्रूप इच्छादि शक्तिमान् का ही संभव है। अतः सभी वस्तु शिवात्मक हैं।

६४. न चाप्यत्र भेदेष्वसत्येषु सत्यबुद्ध्या भ्रान्तिरूपा खण्डनास्ति वेदोक्तवत्, यतो भावानां सर्वेषामेव शिवरूपत्वे स्थिते बहुत्वमेकत्वं वा। यत्पुनः शिवतत्त्वेनैक्यस्य कथनं तत्सर्वेषां शिवतत्त्वेन साम्यायोत्कर्षापकर्षनिवारणाय, (शिदृवृ, १२७)

('नेह नानास्ति किंचन' नियम के अनुसार) जैसे वेदों में असत्य भेदों में सत्य बुद्धि को भ्रान्ति बताते हुए उसका खंडन किया गया है वैसा यहाँ (शिवाद्वयवाद में) नहीं है। क्योंकि सभी भाव पदार्थ शिवरूप में स्थित हैं—चाहे उनमें बहुत्व मानें या एकत्व। जो शिवतत्त्व से ऐक्यरूप में पदार्थों को कहा जाता है वह सब शिवतत्त्व से समानता बताने के लिये है, उनके श्रेष्ठत्व और निकृष्टत्व का खण्डन करने के लिये है।

६५. एवं सुवर्णवत् परमेश्वर एव··· इच्छादिशक्तिमान् तथा तत्त्वभुवनं कार्यकरणादिप्रकारवैचित्र्येण सर्वैपदार्थैरित्थंभूतलक्षणैः स्थितोऽतः शिवात्मकमेव सर्वम्······। (शिदृवृ, १०६)

जैसे (कटक, कुण्डल आदि में सामान्यता) सुवर्ण (ही) है उसी प्रकार इच्छादि शक्तियों से नित्य सम्पन्न परमेश्वर, समस्त तत्त्वसमूह, कार्य करण आदि विचित्ररूपों में समस्त पदार्थों के लक्षणों से सम्पन्नरूप में अवस्थित है। अतः यह समग्र विश्व शिवात्मक ही है।

सत्यासत्यविभाग

६६. यदसत्तदसद्युक्ता नासतः सत्स्वरूपता।
सतोऽपि न पुनः सत्तालाभेनार्थो ······॥ (ईप्रका, २.३५)

जो असत् है वह असत् ही है। असत् की सद्रूपता नहीं हो सकती। जो पदार्थ सत् है उसका पुनः सत्ता लाभ प्राप्त करना निष्प्रयोजन है।

६७. घटज्ञानरजतज्ञानयोश्च द्वयोरपि सत्यत्वे सम्यग्मिथ्यात्वभेदस्तर्हि कथम्? व्यवहाराय व्यवहारप्रयोजनोऽसौ। (शिदृवृ, १४९)

घटज्ञान और (शुक्तिका में) रजत ज्ञान इन दोनों ही ज्ञानों के सत्य होने से सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनों में भेद कैसे होगा ? (उत्तर) यह भेद व्यवहार के लिए, व्यवहार के उद्देश्य से (शिवरचित) है।

६८. अभावोऽपि ज्ञायमानो बोधात्मैव तदात्मकत्वाच्च विश्वरूप एव। तस्मान्नास्त्यभावात्मकमशिवरूपं क्वचिदपि विश्वमध्ये।
(शिदृवृ, १६०)

जाना हुआ अभाव भी ज्ञानरूप ही होता है और ज्ञानरूप होने से विश्वरूप ही है, इसलिये इस विश्व में अभावात्मक या अशिवरूप कुछ भी नहीं है।

६९. लोकव्यवहाराय वा सर्वं शास्त्रवादिप्रतिवाद्यादि। लोकव्यवहारश्च तदभेदाख्यातिमयो न वस्तुगतः। (शिदृवृ १२९)

शास्त्रों को लेकर जो पक्ष-विपक्षरूप से विचार किया जाता है वह सब लोकव्यवहार मात्र के लिए है और लोकव्यवहार उस शिव से अभेद के अज्ञानवाला है, वास्तविक नहीं।

७०. सर्वथा यथा यत् प्रतिभातं तथैव तत्, नान्यथा कर्तुं शक्यते इति सत्यमेव न किंचिन्मिथ्यात्वम्। (शिदृवृ, १५५)

जो जैसा प्रतिभासित होता है वह वैसा ही है। उसे प्रतिभासनरूप से भिन्न अन्य रूप में (अनुभूत) नहीं किया जा सकता। अतः वह उसी रूप में सत्य है। यहाँ (लोक में) मिथ्या (असत्) कुछ भी नहीं है।

सम्बन्ध

७१. द्विष्ठस्यानेकरुपत्वात्सिद्धस्याभ्यानपेक्षणात्।
पारतंत्र्याद्ययोगाच्च तेन कर्तापि कल्पितः॥ (ईप्रका, १.१६)

सम्बन्धो द्विष्ठो, न चैकेनात्मनोभयत्र स्थितिर्युक्ता, न च द्वयोः सिद्धयोरन्योन्यापेक्षा, नापि स्वात्ममात्रनिष्ठयोः पारतन्त्र्यरुपः सम्बन्धः। ततो यथा ज्ञातृत्वं कल्पितं तथा कर्तृत्वमपीति कथमात्मा सर्वेश्वर इति। (वही, वृत्ति)

(बौद्धमत)

द्विष्ठ के अनेक रूप होने से, सिद्ध को अन्य की अपेक्षा न होने से, परतंत्रता होने और योग (संश्लेष) न होने से कर्ता भी काल्पनिक ही है।

सम्बन्ध द्विष्ठ होता है, किंतु एक वस्तु का अपने ही रूप में दो स्थानों पर रहना तर्कसंगत नहीं है। दोनों (सम्बन्धी) यदि सिद्ध हैं तो उन्हें परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा नहीं हो सकती। जो स्वात्ममात्र में अवस्थित हो ऐसे (सम्बन्धियों में) परतंत्रतारूप सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। अतः (बौद्ध मतानुसार) जैसे प्रमातृत्व कल्पित है उसी प्रकार कर्तृत्व भी कल्पित है। तब (शैव मतानुसार) आत्मा सर्वेश्वर कैसे सिद्ध होता है ?

७२. तत्र तत्र स्थिते तत्तद्भवतीत्येव दृश्यते।
नान्यन्नान्योऽस्ति सम्बन्धः कार्यकारणभावतः ।।

(ईप्रका, १.१५)

पूर्वस्मिन्सति परस्य सत्तेत्येतावन्मात्रेऽनुभवः, क्रियावच्च न क्रियाकारकादिसम्बन्धः कश्चिद्भिन्नस्यानुपलम्भात्। (वही, वृत्ति)

(बौद्धमत)

उस-उस के होनेपर वह-वह होता है—ऐसा ही (परमार्थतः) अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त कार्यकारणभावरूप से दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

पूर्वक्षणवर्ती वस्तु के होने पर परक्षणवर्ती वस्तु की सत्ता होती है यही अनुभवसिद्ध है। जैसे क्रिया नहीं है उसी प्रकार क्रियाकारक आदि सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि (सम्बन्धी से) भिन्न [अन्य किसी की उपलब्धि नहीं होती है।

७३. ...... अविद्या हि अविद्यात्वाभ्युपगमादेवासत्या न चासत्यया सम्बन्धो रुपश्लेषमयो युक्तः। (शिदृवृ, ५०)

अविद्या, अविद्यारूप में स्वीकृत होने से असत्य है और असत्य से रूपश्लेषरूप सम्बन्ध मानना तर्कसंगत नहीं है।

७४. स्वात्मनिष्ठा विविक्ता वा भावा एकप्रमातरि।
अन्योन्यान्वयरुपैक्ययुजः सम्बन्धधीपदम् ॥ (ईप्रका,२.१२)

राज्ञः पुरुष इत्यादिसम्बन्धधियोऽन्तेः समन्वयादैक्यं बहिः सम्बन्धभेदं चालम्बन्ते। (वही, वृत्ति)

विविध भाव पदार्थ एक प्रमाता में स्वात्मरूप से अवस्थित हैं। एक दूसरे से परस्पर एकता की संगति रखते हुए वे सम्बन्धरूप ज्ञान (बुद्धि) में स्थित हैं।

७५. क्रियासम्बन्धसामान्यद्रव्यदिक्कालबुद्धयः।
सत्याः स्थैर्योपयोगाभ्यामेकानेकाश्रया मताः ॥
(ईप्रका, २.६)

क्रिया, सम्बन्ध, जाति, द्रव्य, दिक्, काल आदि ज्ञान सत्य हैं क्योंकि (आत्मा) स्थिर (नित्य) है तथा इन (क्रियादि) का (लोकव्यवहार में) उपयोग है। ये (क्रिया आदि ज्ञान) अनेकता में एकतारूप (या भेदाभेदरूप) हैं—ऐसी शैवों की मान्यता है।

७६. अनेकस्यैकता हि सामानाधिकरण्यम्।
(ईप्रकावृत्ति, २. २१)

अनेक में एकता होना ही सामानाधिकरण्य है।



परिशिष्ट–२

अकारादिक्रमानुसार

अजडप्रमातृसिद्धिकारिकासूची

परिशिष्ट–३

अकारादिक्रमानुसार

ईश्वरसिद्धिकारिकासूची

परिशिष्ट–४

अकारादिक्रमानुसार

सम्बन्धसिद्धिकारिकासूची



परिशिष्ट–५

सिद्धित्रयी

अकारादिक्रमानुसारसमन्वितकारिकासूची

परिशिष्ट–६

सिद्धित्रयी

उद्धरण-सूची

१. तथोक्तं परैः

कुम्भकाराद्यधिष्ठानं घटादौ यदि वेष्यते ।
नेश्वराधिष्ठितत्वं स्यादस्ति चेत्साध्यहीनता ।।
यथासिद्धे च दृष्टान्ते भवेद्धेतोर्विरुद्धता ।

श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेप, पृ० ८०८

(सिद्धित्रयी, पृष्ठ, २३)

२. सिद्धं यादृगधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमत् ।
संनिवेशादि तद्युक्तं यस्मात्तदनुमीयते ।।

प्रमाणवार्तिकम्, १. १३

अन्यथा कुम्भकारस्य मृद्विकारस्य कस्यचित् ।
घटादेः कारणात् सिद्ध्येद्वल्मीकस्यापि तत्कृतिः ।।

प्रमाणवार्तिकम्, १. १५

(सिद्धित्रयी, पृष्ठ, २७–२८, ४५)

३. यदुक्तम्

'न स्यात्क्रियाव्यूहविधिस्तथायं
यादृच्छिका··· ··· ··· ··· ··· ।

(सिद्धित्रयी, पृष्ठ, ३३)

४. तदुक्तम्

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ।'

बृहदारण्यकोपनिषद् , ४. ५. १५

(सिद्धित्रयी, पृष्ठ, ३४)

५. ते हि

'अमिश्राः स्वयं भावास्तान्योजयति कल्पना ।'

धर्मकीर्तिकृतसम्बन्धपरोक्षा, ५

(सिद्धित्रयी, पृष्ठ, ६३, ६६, ७७)

६. तथा चाहुः

'संयुज्यन्ते न भिद्यन्ते स्वतोऽर्थाः पारमार्थिकाः ।
रूपमेकमनेकञ्च तेषु बुद्धेरुपप्लवः ॥'

(सिद्धित्रयी, पृष्ठ, ६४)

७. अभ्युपगत एव च भवद्भिः येनोक्तम्

'अर्थाकारप्रतिभाससंलग्नत्वाद्-
बाधकेनापिदुरुद्धरोऽयं भ्रमः ।'

(सिद्धित्रयी, पृष्ठ, ६६)

८. तथा चाचार्यधर्मकीर्तिः

'बहिर्मुखं च तज्ज्ञानं भात्यर्थप्रतिभासवत् ।
बुद्धेश्च ग्राहिका बुद्धिर्नित्यमन्तर्मुखात्मनि ॥'

प्रमाणवार्तिकम्, २. ४२८

(सिद्धित्रयी, पृष्ठ, ७४)

९. या चैषा प्रतिभानन्तपदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, १. ७. १

(सिद्धित्रयी, पृष्ठ, ७५)



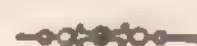
परिशिष्ट–७

सिद्धित्रयी में उल्लिखित आचार्य एवं ग्रन्थ



परिशिष्ट–८

सिद्धित्रयी में उल्लिखित दर्शन एवं सिद्धान्त



परिशिष्ट–९

आचार्य अभिनवगुप्तविरचिता

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी एवम् ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में उद्धृत सिद्धित्रयी

अजडप्रमातृसिद्धि, कारिका १३

ईप्रवि–१. १. ४, पृ. ४२; १. १. ५३, पृ. १६३

ईप्रविवि–(भाग १) १. १, पृ. ६७; १. ३, पृ. २२०;

(भाग २) १. ५, पृ. ७७; १. ५, पृ. ८१;

अजडप्रमातृसिद्धि, कारिका १५

ईप्रवि–१. १. १, पृ. १८; १. ५, १२, पृ. १६६

ईप्रविवि (भाग १) १. १, पृ. ५४; १. १, पृ. ८३

(भाग २) १. ४, पृ. ५६; १. ५, पृ. १८६;

१. ५, पृ. २१५;

(भाग ३) २. १. पृ. ४; ३. १. पृ. २६८

अजडप्रमातृसिद्धि, कारिका २०–२१

ईप्रवि–१. ३. ७, पृ. १११; १. ८. ६, पृ. ३३६

ईप्रविवि (भाग १) १. १. पृ. ६२; १. १, पृ. ६१;

१. ३, पृ. २२५; १. ३, पृ. २८७;

(भाग २) १. ५, पृ. २१३; १. ५, पृ. २१८;

१. ६, पृ. २६४; १. ८, पृ. ४३३;

१. ८. पृ. ४३४;



परिशिष्ट–१०

महत्त्वपूर्ण शब्दसूची

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा ओरियन्टालिया
CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
बैंग्लो रोड, ९ यू०बी० जवाहर नगर
निकट किरोड़ीमल कालेज
दिल्ली-110007
Phone : 2911617, 238790